संस्कृत चिन्तकों की राष्ट्रिय, आध्यात्मिक एवं पर्यावरणीय चेतना

डॉ० (श्रीमती) शैल वर्मा

संस्कृत चिन्तकों की राष्ट्रिय-आध्यात्मिक एवं पर्यावरणीय चेतना

लेखिका
डॉ० (श्रीमती) शैल वर्मा
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
बी०डी०एम०एम० गर्ल्स स्नातकोत्तर कॉलेज
शिकोहाबाद-(उ०प्र०)

हरिलीला पब्लिकेशन्स
इलाहाबाद

ISBN 978-81-905671-2-1

संस्कृत चिन्तकों की राष्ट्रिय, आध्यात्मिक एवं पर्यावरणीय चेतना

डॉ० (श्रीमती) शैल वर्मा

प्रथम संस्करण : 2008

मूल्य : दो सौ साठ रुपये

प्रकाशक :
हरिलीला पब्लिकेशन्स
287, स्टेनली रोड, कमला नगर
इलाहाबाद-211002

मुद्रक :
दूबे प्रिन्टर्स एण्ड ग्राफिक्स
50 A, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-211002

पुरोवाक्

परमेश्वर की असीम कृपा से प्रस्तुत ग्रन्थ के लघु कलेवर में मेरे सोलह शोधपत्र प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें से अधिकांश शोधपत्र राष्ट्रीय एवं अतंर्राष्ट्रीय संस्कृत शोध संगोष्ठियों में प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य प्रकाशानन्द कृत 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में 'अज्ञान का आश्रयत्व एवं विषयत्व' यह मेरा पहला शोध-पत्र, जोकि 'गंगानाथ झा संस्कृत शोध संस्थान' से 1997 में प्रकाशित हुआ था, मेरे शोध कार्य से सम्बन्धित है। 'वर्तमान समस्याओं का समाधान' सन् 1998 में राष्ट्रीय संस्कृत शोध संगोष्ठी, मैनपुरी में प्रस्तुत किया गया था। 'संस्कृत साहित्य में पर्यावरणीय चेतना' हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद द्वारा आयोजित 'संस्कृतवर्षम्' में संस्कृत भाषा में सन् 2000 में प्रस्तुत किया गया था। इसका हिन्दी रूपान्तरण शिमला यूनिवर्सिटी में प्रायोजित पुनश्चर्यापाठ्यक्रम की संस्कृत संगोष्ठी में सन् 2001 में प्रस्तुत किया गया था। 'राष्ट्र शक्ति का जागरण' आधुनिक संस्कृत साहित्य के कवियों के परिप्रेक्ष्य में सन् 2000 में दयालबाग मानित विश्वविद्यालय, आगरा में आयोजित 'अखिल भारतीय संस्कृत शोध संगोष्ठी' में प्रस्तुत किया गया तथा गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद से प्रकाशित हो चुका है। ''आधुनिक संस्कृत साहित्य में अध्यात्म चेतना'' सेन्ट जॉन कालेज, आगरा में सन् 2002 में आयोजित 'नेशनल सेमिनार' में प्रस्तुत किया गया तथा दिल्ली से प्रकाशित 'अर्वाचीन संस्कृतम्' में प्रकाशित हो चुका है। 'आधुनिक सन्दर्भ एवं मनुस्मृति' सन् 2003 में 'वर्ल्ड ऐसोसियेशन फॉर वैदिक स्टडीज़ ब्रान्च इण्डिया (एकेडेमिक सोसायटी यू0एस0ए0)', नई दिल्ली में प्रस्तुत किया गया।

'आयुर्वेद में जल' सन् 2004 में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, में आयोजित 42वें ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कांफ्रेंस में प्रस्तुत किया गया। 'संस्कृत वाङ्मय में जल विज्ञान' सन् 2005 में राष्ट्रीय संस्कृत शोध संगोष्ठी, 'संस्कृत में विज्ञान एवं वैज्ञानिक तत्व', इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद में प्रस्तुत किया गया। 'वेदों में निहित राष्ट्रीय चेतना' फरवरी 2007 में 'अंतर्राष्ट्रीय वेद वेदाङ्ग विद्वत्सम्मेलन' गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में प्रस्तुत किया गया।

आचार्य प्रवर मनीषि मूर्घन्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत

विभाग के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष तथा पूर्व कुलपति डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र जी की नूतन रचना आद्याचतुश्शती प्राप्त होने पर उनके प्रति अपने विचार व्यक्त करने से अपने को रोक नहीं पाई। अतः 'आद्याचतुश्शती में राष्ट्र चेतना' एवं 'आद्याचतुश्शती में मानवमूल्य एवं अध्यात्म भावना' विषय में मैंने आचार्य श्री के श्रेष्ठ विचारों को संकलित करने का प्रयास किया है।

इस कार्य में मैं अपने माता-पिता एवं आचार्य के आशीर्वाद को ही फलीभूत पाती हूँ। लेखन के क्षेत्र में यह मेरा बचकाना प्रयास है, यद्यपि इसमें असंख्य त्रुटियाँ विद्वत् जनों को प्राप्त होंगी। आशा है त्रुटि संशोधन हेतु अवश्य ही वे मुझे संकेत करेंगे।

यह जो कार्य आपके समक्ष है उसमें सर्वाधिक सहयोग मेरे पूज्य पति श्री सुशीलचन्द्र जी का रहा है। मैं उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ एवं प्रिय पुत्र श्री मनस्वी एवं श्री संविद जिनके सहयोग के बिना लेखन ही सम्पन्न नहीं हो पाता। उन्हें आशीर्वचन प्रकट करते हुये अपने कथन को यहीं विश्राम देती हूँ।

अंत में इस कार्य के प्रकाशन में सहयोग देने वाले श्री दीपक कुलश्रेष्ठ, श्री चित्रगुप्त टाईप सेन्टर के श्री राकेश कुलश्रेष्ठ को धन्यवाद देती हूँ एवं टंकण सम्बन्धी अशुद्धियों को संशोधित कर मुद्रण कार्य के प्रति प्रेरणा देकर साकार रूप प्रदान करने वाले भाई श्री सत्यव्रत मिश्र जी को बहुशः धन्यवाद देते हुये आभार प्रकट करती हूँ।

रामनवमी **डॉ० (श्रीमती) शैल वर्मा**

14 अप्रैल, 2008 **1170, शम्भूनगर, शिकोहाबाद-(उ०प्र०)**

●

विषयानुक्रमणिका

●

सर्वानीशानविष्णुद्रुहिणदिनमणीन्निर्जराधीश्वरांश्च,
अन्यान्वै लोकपालान् यमवरुणमरुद्रुद्रशक्रादिदेवान्।
लोकानां पालनादौ समुचितविधया योजयन्स्वे नियोगे,
जेता देवाधिदेवः परमसुखसुधासाररूपः परेशः।।

–आद्याचतुश्शती, तत्त्व–खण्डः

राष्ट्रभूम्यै नमो मातृभूम्यै नमः।
देशभूम्यै नमो जन्मभूम्यै नमः।।
तत्स्थले खेलनं, तज्जले क्रीडनं।
सर्वसौख्यप्रदं, दुःखमुक्तिप्रदम्।।

–आद्याचतुश्शती, राष्ट्र–खण्डः

वायुर्विशुद्धः प्रचुरा च वृष्टि–,
मृद्रक्षणं पादपकार्यमेव।
विकारिपर्यावरणस्य शुद्धौ,
वृक्षाः सहाया नहि केचिदन्ये।।

–आद्याचतुश्शती, राष्ट्र–खण्डः

प्रथम-खण्ड

राष्ट्रिय चेतना

वेदों में निहित राष्ट्रिय-चेतना
(सामयिक अपेक्षा के सन्दर्भ में)

वैदिक साहित्य में राष्ट्रीय चेतना अत्यंत उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित है। वैदिकी राष्ट्रीय चेतना बड़ी उच्चकोटि की है, वह संकीर्णता से परे है। वहाँ केवल अपने सुख की कामना नहीं बल्कि पूरे विश्व को सुखी देखने का अद्भुत चिन्तन है। वेदों में प्राप्त राष्ट्रीय अवधारणा किसी सीमित भूखण्ड या देश पर लागू न होकर एक आदर्श राष्ट्र का प्रतिरूप बन गयी है। प्रत्येक राष्ट्र का आधार एक निश्चित भूखण्ड होता है; किन्तु केवल भूखण्ड राष्ट्र नहीं है। उस भूखण्ड पर जिस संस्कृति का विकास होता है, उसका महत्त्व भूखण्ड से अधिक होता है। संस्कृति के अभाव में भूखण्ड रह सकता है, लेकिन राष्ट्र नहीं। वैदिक ऋषि के अनुसार राष्ट्र का अभिप्राय एक विशिष्ट भूखण्ड पर विकसित मानवीय संस्कृति से होता है। जिसकी वाहिका वहाँ की राष्ट्रभाषा होती है। राष्ट्र के स्वरूप में भूखण्ड, संस्कृति तथा भाषा तीनों अनिवार्य रूप से जुड़े होते हैं। वेदों में राष्ट्र विषयक अवधारणा इडा, भारती तथा सरस्वती क्रमशः राष्ट्रभूमि, राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा के प्रतीक हैं।

'तिस्त्रो देवीर्बर्हरेदं सदन्तां इडा सरस्वती मही भारती गृणाना।'[1]

अर्थात् मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि इन तीन देवियों के प्रति राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक में आदर भाव रहे।

राष्ट्र के प्रति निष्ठा हेतु आवश्यक है कि व्यक्ति अपने को राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण अंग माने-अथर्ववेद मं ऋषि की उक्ति है-

'अहं राष्ट्रं स्यान्निवर्गे निजी भूयासमुत्तमः।'[2]

प्रत्येक नागरिक में यह भाव होना चाहिये कि 'मैं राष्ट्र की जनता में उत्तम होऊँ।' व्यक्ति चाहे सरकार में हो या जनता में उसे कभी राष्ट्र से स्वयं को अलग नहीं समझना चाहिए, जो अपने को राष्ट्र से अलग मानता है, दूसरे राष्ट्र के प्रति आत्मीयता रखता है, अपने राष्ट्र को बुरा समझता है, उसकी राष्ट्रीयता में संदेह है।

वैदिक ऋषि को अपने राष्ट्र में उत्पन्न होने का गर्व है-

'प्रादुर्भतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं वृद्धि ददातु मे'।[3]

अर्थात् मैं इस राष्ट्र में पैदा हुआ हूँ। ईश्वर मेरे राष्ट्र में कीर्ति और वृद्धि प्रदान करें।

राष्ट्र भक्तों की यह आकांक्षा होनी चाहिये कि उनका राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम है।

'सा नो भूमिस्त्विंषि बलं राष्ट्रं दधातु उत्तमे।'[4]

वेदों में हमें राष्ट्रभूमि के प्रति मातृत्व की भावना प्राप्त होती है, जैसे माता में रक्त मांस आदि से बच्चे का देह बनता है, उसी तरह मातृभूमि के अन्न, पानी, हवा और वनस्पतियों से देश के मनुष्यों को जीवन प्राप्त होता है। मातृभूमि में माता का दर्शन एक राष्ट्रीय सौन्दर्य बोध है। अथर्ववेद में मातृभूमि के प्रति ऋषि ने जो भाव व्यक्त किये हैं, वह राष्ट्र प्रेम की पराकाष्ठा है। राष्ट्रभूमि केवल पत्थर या रेत नहीं वह तो दिव्य देवी है, जो अपनी गोद में सभी प्राणियों का पोषण कर रही है। इसलिये तो ऋषि गर्व से कहते हैं-

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[5]

आज जनमानस में राष्ट्र भूमि के प्रति मातृत्व भाव बोध कराने में कोई कानून सहायक नहीं हो सकता। यह कार्य हमारी आस्थापरक बुद्धि सहज ही कर सकती है। हमें आस्था को व्यवस्था से जोड़ना होगा।

यदि समस्त राष्ट्रवासियों को 'वंदे मातरम्' गीत गाने का अनिवार्य नियम बना दें तो विरोधी स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं। किन्तु जब हम दूरदर्शन के माध्यम से किसी धारावाहिक के माध्यम से या वृत्तचित्र के माध्यम से धरती की माँ के रूप में सतत् दीर्घकाल तक प्रदर्शित करते रहें और जनमानस को यह अनुभूत करा दें कि अपने अथाह जल भण्डार को नित्य समर्पित करने वाली धरा पय:पाविनी माँ के तुल्य है, उससे भी बढ़कर है। विविध धन-धान्य के भण्डारण से समृद्ध बनाने वाली अपने अन्न से जनता को पोषित करने वाली धरा माँ नहीं तो और क्या है? इसके लिये ऑडियो, वीडियो के माध्यम से दर्शाना होगा कि भारतभूमि प्राकृतिक सम्पदाओं से सम्पन्न है।

वेदों में राष्ट्रीय भावना के अवसर खोजने नहीं पड़ते, एक-एक शब्द राष्ट्रीयता का बोध कराता है। राष्ट्र के प्रति मातृत्व की अनुभूति राष्ट्रवासियों में पर्यावरणीय चेतना का स्फुरण करती है। आज दूरदर्शन पर्यावरणीय चेतना को उत्पन्न करने के सशक्त माध्यम है। आवश्यकता है कि इन माध्यमों का प्रयोग सार्थक ढंग से हो। शब्द संगीत के माध्यम

से ऐसे प्रभावशाली कार्यक्रम प्रसारित किये जाएँ कि दर्शक पर्यावरण प्रदूषण के खतरों से अनभिज्ञ न रहें उस ओर सक्रिय भूमिका निभायें। ये कार्य उपदेशों और वक्तव्यों में सीमित रह कर नहीं किये जा सकते। इनका प्रस्तुतीकरण कलात्मक और भावप्रवण हो, जो सीधे दर्शकों के मन में समाहित हों क्योंकि इन कार्यक्रमों को नब्बे प्रतिशत दर्शक अवश्य देखते हैं।

उच्चता का प्रतीक हिमालय, धरती का स्वर्ग कश्मीर, ऋषियों के यज्ञों से पवित्र बनी नदियाँ, तप:पूत वनस्थलियाँ, मेखला की भाँति शोभित पर्वतमालायें, दक्षिण के सम्पन्न पूर्वी और पश्चिमी घाट सर्वत्र भारतीय संस्कृति और राष्ट्र प्रेम से ओतप्रोत है। हमारे पूर्वजों ने भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य को देख, इसको प्राणदायिनी शक्ति समझकर ही देवी का रूप दिया। इन तरंगों, दृश्यों एवं समग्र राष्ट्र बोध को जनमानस तक संप्रेषित करने की आवश्यकता है।

राष्ट्र की सुरक्षा से अभिप्राय है, राष्ट्र की स्वतंत्रता और अखण्डता की रक्षा, राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा एवं राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा। जिस प्रकार राष्ट्र को बाह्‌य शत्रुओं से सुरक्षित रखने की आवश्यकता है, उसी प्रकार आंतरिक शत्रुओं से बचाव की भी आवश्यकता है। देश की रक्षा हेतु गये सैनिक के त्याग के साथ ही उसकी माता, बहिन, पत्नी, संतान तथा अन्य परिवारीजनों का त्याग भी संचित होता है। यदि माता पुत्र को राष्ट्रीयता से परिचित न कराये, त्याग की प्रेरणा न दे तो कोई बालक इस ओर सचेष्ट नहीं हो सकता। भाई-बहिन यदि मनोबल न बढ़ायें तो क्या एक भाई इस ओर अपने कदम बढ़ा सकता है। पत्नी यदि अपने को संयमित न रखे तो क्या कोई सैनिक सीमा तक पहुँच सकता है। पूरे परिवार का त्याग उसके पीछे उत्प्रेरक बनता है तब एक सैनिक देश की सीमा पर पहुँचता है। राष्ट्र की सुरक्षा के पीछे त्याग और बलिदान की पूँजी उत्प्रेरक का काम करती है। यह भावना वेदों में हमें विविध रूपों में प्राप्त होती है। बल्कि यह मानना अनुचित नहीं होगा कि जो राष्ट्र प्रेम हमें प्राप्त हो रहा है वह कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में वैदिक ज्ञान से ही निस्यंदित हुआ है। राष्ट्र प्रेम ही पूरे राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध कर अखण्ड राष्ट्र का स्वरूप साकार करता है। ऐसा होने पर ही वैज्ञानिक उपलब्धियों का सही दिशा में प्रयोग सम्भव होता है। इस संदर्भ में अथर्ववेद का यह मंत्र विचारणीय है-

परित्वाधात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रा वरूणावभित्वा।
सर्वा अरातीरविक्रामन्ने हि इदं राष्ट्रमकरः सुनृतावत।।[6]

इस मंत्र में सूर्य, अग्नि, मित्र, वरूण देवों से प्रार्थना की गयी है, कि वे सभी ओर से राष्ट्र की रक्षा करें। हमारे राष्ट्र में जो भी शत्रु हैं, उन्हें कुचल दें। शत्रु नाश से ही राष्ट्र की सुरक्षा सम्भव है। शस्त्रों द्वारा सुरक्षित राष्ट्र में ही ज्ञान विद्वान और शास्त्रों की चर्चा प्रारम्भ होती है। राष्ट्र सत्यनिष्ठ होने पर ही उन्नत और अग्रगण्य होता है।

राष्ट्र की उन्नति तभी संभव है जब वहाँ के निवासी दृढ़ निश्चयी और अजेय हों। यजुर्वेद में बड़े ही सुन्दर ढंग से मन की शक्ति को अजेय और शुभ संकल्पों वाला बनाने की कामना की गयी है-

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्चय,
यज्ज्योतिरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन् कर्म क्रियते,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[7]

हमारे राष्ट्र में, राष्ट्र के वीरों में कभी भी पराधीनता और दासता की भावना न हो। वे सदैव शत्रुओं को नष्ट करें और विजयी हों। ऋग्वेद की यह सूक्ति दर्शनीय है-

मा वीरो अस्मन्नर्यो विदासीत्।[8]

इसके साथ ही पराधीनता को दूर करने का उपाय भी बताया गया है-वीरता, जनहित एवं जन संग्रह। वीरता और सामूहिक संगठन से पराधीनता के पाशों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है-

ये युध्येन्ते प्रधनेषु शूरा सो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्त्र दक्षिणाः तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।[9]

अर्थात् रणवीर या युद्धवीर वे हैं, जो देश की सुरक्षा के लिये अपने प्राणों की चिन्ता न करके युद्ध में जाते हैं। दूसरे प्रकार के वे दानवीर हैं, जो देश की आवश्यकता के समय मुक्त हस्त से दान करते हैं। ऐसे दानवीरों को 'सहस्रदक्षिणाः' कहा है। ये दोनों प्रकार के वीर समाज और राष्ट्र के लिये आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं।

सभी देशवासी जब मिलकर एक-दूसरे के तीज-त्यौहार मनाते हैं, तो राष्ट्रीय चेतना परिपक्व होती है, जो लोग देश की अखण्डता को खंडित करने के रास्ते चुन रहे हैं, उनसे हमें सावधान रहना होगा। वस्तुतः राष्ट्र की सुरक्षा के लिए निरंतर जागरूकता की आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यक्ति सदैव सावधान और जागरूक रहे, जिससे शत्रु किसी प्रकार की घात करने का साहस न करे। इस हेतु बाल्यावस्था से ही देश भक्ति, देश रक्षा एवं देशप्रेम की भावना से बालकों को संस्कारित करने की अपेक्षा है, जिससे राष्ट्र, राष्ट्र के निवासी एवं राष्ट्रीय संस्कृति सुरक्षित रहे। ऋग्वेद के मूल मंत्र में यही भाव संचित है-

समान ऊर्वे अधिसंगतासः संजानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति ब्रतानि अमर्धन्तोबसुभिर्यादमानाः।।[10]

समाज की श्रीवृद्धि के लिये इस मंत्र में दो निर्देश दिये गये हैं-(1) एक स्थान पर एकत्र होकर सामूहिक निर्णय लेना। (2) प्राकृतिक नियमों का न तोड़ना।

समाज की उन्नति के लिए प्रतिष्ठित व्यक्ति एकत्रित होकर सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु सामूहिक निर्णय लें। ''संजानते'' के द्वारा निर्देश दिया गया है कि उनमें संज्ञान हो। सामूहिक निर्णय के विरूद्ध कोई किसी प्रकार का कार्य न करें। इससे समाज प्रगतिशील होता है। इसी संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि भाषा वैविध्य राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा बाधक तत्व है। राष्ट्रीय एकता को बलवती बनाने में भाषा की अहम् भूमिका होती है। वैदिक ऋषियों ने एक भाषा की महत्त समझी थी और संस्कृत को अखिल भारतीय एकता की संवाहिका के रूप में विकसित किया था। आज पुनः संस्कृतिगर्भा संस्कृत भाषा का प्रयोग शक्तिशाली ढंग से दूरदर्शन जैसे जनसंचार तंत्र के माध्यम से करने की आवश्यकता है, जिसमें सम्प्रेषण का माध्यम ध्वनि संकेतों तथा संगीत की लय व ताल पर होता है। संस्कृत भाषा के भी प्रयोजन मूलक प्रयोग मानवीय चेतना को झंकृत कर सृजनात्मक मोड़ दे सकते हैं।

जन मानस तक यह संप्रेषित करना अति आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति की संवाहिका संस्कृत भाषा का महत्व आज भी अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। संस्कृत और संस्कृति अविच्छिन्न है। यदि संस्कृत भाषा और वाङ्मय न होता तो भारतीय संस्कृति को खोजना मुश्किल हो जाता। हमारी संस्कृति राष्ट्र की बहुमूल्य संपत्ति है। हिन्दी में प्रयोगों की विविधता होने का तात्पर्य कदापि यह नहीं लेना चाहिये कि संस्कृत भाषा अब अपने दायित्वों से मुक्त हो चुकी है। आज के दिग्भ्रान्त युग में संस्कृत का दायित्व और भी बढ़ गया है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल को सींचने से वृक्ष शीर्ष तक हरा-भरा रहता है, उसी प्रकार संस्कृत के समृद्ध होने से समसामयिक जनसंचार तन्त्रों से जुड़ने से हमारा राष्ट्र विश्व में अग्रगण्य होगा।

जिस प्रकार पृथ्वी अपने अंक में बिना किसी भेदभाव के सबका पोषण करती है, उसी प्रकार विविध भेदों के मध्य आपसी सद्भाव का अंकुरण सदैव वैदिक चेतना करती रहे। ऐसे हम सभी के प्रयास सतत् होते रहें।

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं, नाना धर्माणं पृथिवी यथोकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य में दुहां, ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।[11]

अथर्ववेद का यह मंत्र मात्र पढ़कर सुना देने से हम सम्भवत: अपने लक्ष्य पूर्ति में सफल नहीं हो सकते। आज के समय की यह माँग है कि हम प्रभावी जनसंचार तन्त्र के माध्यम से सार्थक वृत्तचित्रों एवं संगीतमय ध्वनि तरंगों से इसे जनमानस में एवं बालमन में रचा-बसा दें।

आज मनुष्य का अधिकांश समय दूरदर्शन के दर्शन एवं श्रवण में व्यतीत होता है जिसमें नरसंहार एवं मानव मूल्यों के ह्रास का चित्रण सतत् होता रहता है जो राष्ट्रप्रेम के संवर्धन का अवरोधक है। एक राष्ट्र के लिये असहनीय है। आज की नवागत पीढ़ी लगातार ऐसे चित्रण देखकर इन्हें ही सही समझेगी। उनमें सही और गलत का बोध ही उत्पन्न नहीं होगा। अतएव ऐसे समाचारों के साथ सही गलत के बोध के संस्कार भी बच्चों में चुपचाप सम्प्रेषित किये जाने चाहिये। विज्ञापनों के दौर में राष्ट्र चेतना के संस्कार, हमारी संस्कृति का मूल, जो कि वेदों में निहित है, उसके व्यापक प्रसार होने चाहिये। उससे भी बच्चों को परिचित किया जाना चाहिये। अन्यथा पच्चीस वर्षों के बाद वेदों की राष्ट्रिय चेतना से परिचय रखने वालों का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायेगा।

वस्तुत: पाश्चात्य दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व व्यवसाय हेतु बाजार है। आदान-प्रदान एवं सौदेबाजी का क्षेत्र है। जबकि भारतीय दृष्टि में सकल विश्व एक परिवार है, सभी के साथ एकत्व की भावना रखने की कामना है। जहाँ एकत्व की भावना है वहाँ हिंसात्मक वृत्ति अंकुरित होने की सम्भावना ही नहीं उठती। यदि पाश्चात्य ही प्रभावी हो गया तो एक दिन ऐसा होगा कि अंतरिक्ष, सागर एवं वायु पर भी प्रयोग का अधिकार सबका नहीं होगा। इससे विद्रुप मानसिकता पनपेगी।

वर्तमान की आवश्यकता है कि सभी में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना का अंकुरण हो। आज की राष्ट्रीय चेतना वृहत्त्र कल्याण की कामना से संयुक्त होनी चाहिये जिसकी संभावना वैदिकी चेतना से ही उपलब्ध हो सकती है। अत: लोगों के मन और हृदयों के बदले जाने की

आवश्यकता है। वैदिकी राष्ट्रिय चेतना में विभेदों के बीच ऐक्य स्थापित करने की अद्भुत मानवीय मेधा है। किन्तु आज पुस्तकें दूर होती जा रही हैं, पठनीयता खोती जा रही है। चिन्तन क्षीण होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में अपेक्षा है कि लोकप्रिय जन संचार माध्यमों का सहारा लिया जाय और जनमानस के मस्तिष्क और हृदय में वैदिक संदेशों को संप्रेषित किया जाय। इसके लिये सीमित दायरे से बाहर निकलकर दीर्घकालिक सातत्यपूर्ण प्रक्रिया अपनानी होगी। जिससे हमारी राष्ट्रिय चेतना वृहत्तर कल्याण से ओतप्रोत हो, उससे अन्य राष्ट्र भी प्रभावित हों और हिंसात्मिका वृत्ति का सर्वथा लोप हो जाय। अध्यात्म भाव इतने प्रभावी हों कि सर्वत्र एकत्व की भावना हो, सर्वत्र दुःखों का अभाव हो जाय।

अथर्ववेद के इस मंत्र के माध्यम से अपने राष्ट्र के प्रति मंगल कामना अपेक्षित है-

प्रान्यान् सपत्नान् सहसा सहस्व,
प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभाग्य,
विश्व एनमनुमदन्तु देवाः।।[12]

हे परमात्मन्! सभी शत्रुओं को अपने बल से दबा दो, भावी शत्रुओं को नष्ट करो। इस राष्ट्र को समृद्धि से पूर्ण करो। सभी देव इसका अनुमोदन करें।

सन्दर्भ

1. अथर्ववेद 5।27।9
2. अथर्ववेद 3।5।2
3. ऋग्वेद 2।7।11
4. अथर्ववेद 12।1।8
5. अथर्ववेद 12।1।12
6. अथर्ववेद 13।1।21
7. यजुर्वेद 34।3
8. ऋग्वेद 7।1।21
9. ऋग्वेद 10।154।3
10. ऋग्वेद 7।76।5
11. अथर्ववेद 12।1।45
12. अथर्ववेद 7।35

राष्ट्रशक्ति का जागरण

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याम्', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'नहि मानवात् श्रेष्ठतंर हि किंचित्,' 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' इत्यादि पुनीत संदेशों को सतत अभिव्यक्त करने वाली संस्कृत भाषा हजारों वर्षों से भारत की सांस्कृतिक विरासत एवं जीवंत परम्पराओं की संवाहिका रही है तथा आज भी अखण्ड भारत के प्रति अपनी सक्रिय भूमिका निभा रही है। कश्मीर से कन्या कुमारी तक, पुरी से द्वारिका तक चतुर्दिक् क्षेत्रों में संस्कृत के साहित्यकार राष्ट्रीय एकता के प्रति सजग हैं और इसके अवरोधक तत्वों की निर्भीक उद्घोषणा कर रहे हैं। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं स्वाभिमान के लिए आज जिस राष्ट्र शक्ति की अपेक्षा है, उसे संस्कृत कवि किस अदम्य गति से अभिव्यक्त कर रहे हैं, इस विषय की समीक्षा प्रस्तुत शोध पत्र में की जा रही है।

वर्तमान समय में भारत विविध विषमताओं, विघटनकारी तत्वों एवं अनेकानेक विकट संकटों से घिरा हुआ हैं आज देश जितना सीमावर्ती पड़ोसी देशों द्वारा उत्पन्न की गयी विभीषिकाओं से जूझ रहा है, उतना ही आन्तरिक शक्तियों को कमजोर बनाने वाली समस्याओं से आक्रान्त है। हमारे मैत्री पूर्ण व्यवहार रखने पर भी हमारे पड़ोसी देश अपने वैरभाव पर संयम नहीं रख पा रहे हैं और निरंतर घातक क्रियाकलापों का दुश्चक्र फैलाते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के प्रति जागरूक हो। राष्ट्र में फैल रही राष्ट्र विरोधी गतिविधियों पर नजर रखे और उसके निराकरण का हर संभव प्रयास करें।

स्वतंत्रता से पूर्व भारत की जनता ने जिस राष्ट्रशक्ति से अभिभूत होकर राष्ट्र के प्रति प्राणों की बाजी लगायी थी। आबाल वृद्ध सभी केवल राष्ट्रशक्ति से प्रेरित हो रहे थे। आज पुनः उसी राष्ट्र शक्ति को जाग्रत करने की परम आवश्यकता है। आजादी के पहले अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को संस्कृत ने किस प्रकार जाग्रत किया इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त हैं। 'वंदे मातरम्' संस्कृत भाषा में लिखा गया यह गीत जितना अपने समय में सोये प्राणों को जगाने में सक्षम था, उतना ही आज भी अपने उद्बोधन से राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के संरक्षण में सक्षम है। वंदे मातरम् गीत मात्र एक गीत नहीं है, यह पूरे राष्ट्र को अखण्डता में आबद्ध करने वाला सूत्र है। पूरे देश में राष्ट्रीय चेतना

जगाने वाला बिगुल हैं। अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों से विमुख होती जनता को जागरूक करने का मंगल नाद है।

राष्ट्र शक्ति को जाग्रत करने की अपेक्षा पर विचार करते हुये हमें कई तथ्यों का अवलोकन करने की आवश्यकता है जैसे-राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं स्वाभिमान, राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्व तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु राष्ट्र शक्ति के जागरण की अपेक्षा।

जिस सीमाबद्ध धरा पर अपने अभीष्ट कार्यों को करते हुये हम जीवन निर्वाह करते हैं, जिसकी मिट्टी में पल बढ़कर हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उस राष्ट्र के लिए हमारे अंदर आदरभाव का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक नागरिक में उसकी एकता, अखण्डता एवं संस्कृति के प्रति दायित्व बोध होना आवश्यक है। जिस राष्ट्र के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना नहीं होती, जो अपनी मात्रभूमि के लिए आत्म गौरव की अनुभूति नहीं करते, उसे दूसरे राष्ट्र बार-बार आक्रान्त करते हैं, आक्रामक स्थिति बनाते हैं अतएव प्रत्येक देशवासी को राष्ट्रबोध होना आवश्यक है। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं स्वाभिमान जाग्रत करने में आधुनिक संस्कृत कवियों में डॉ0 रमाकान्त शुक्ल ने अपने दायित्व का निर्वाह पूरे मनोयोग से किया है-

विश्वबन्धुत्वमुद्घोषयत्पावनं,
विश्ववन्द्यैश्चरित्रैर्जगत्पावयत्।
विश्वमेकं कुटुम्बं समालोकयद्,
भूतले भाति मेऽनारतं भारतम्।।[1]
सन्तु दोषा अनेकेऽत्र कैश्चिद्मताः,
किन्तु नाहं प्रपश्यामि तान् मन्दधीः।
वन्दनीयं मया, कीर्तनीयं मया, मोदतां,
वर्धतां राजतां भारतम्।।[2]

राष्ट्र का भौगोलिक स्वरूप क्या है, उसके सीमावर्ती क्षेत्रों का हमारे लिए क्या महत्व है उनके संवेदनशील होने से राष्ट्र किन रूपों में प्रभावित होता है, उसे किस प्रकार की अपूरणीय क्षति उठानी पड़ती है। इन बातों की समीक्षा से ही राष्ट्र प्रेम के अंकुर फूटते हैं राष्ट्र के स्वरूप का वर्णन एवं दर्शन राष्ट्र प्रेम का उद्बोधक तत्व है। विशाल नगपति, विन्ध्य श्रृंखलायें, अरण्ययुक्त वनोभूमि, नीलसागर तथा विविध दर्शनीय स्थल राष्ट्र के प्रति आत्मीयता उत्पन्न करते हैं तथा उसके प्रति कर्तव्य बोध कराते हैं। राष्ट्र के निवासियों में भौगोलिक एकता तथा सामूहिक

की भावना होना तथा एकता की भावना से युक्त समस्त जनसमूह की सामूहिक संचेतना ही राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्र की भूमि, नदी, वन, पर्वत, संस्कृति, सभ्यता, कला साहित्य एवं जीवन दर्शन के प्रति जो स्वाभाविक है स्वाभिमान है, वही राष्ट्रीयता है। 'राष्ट्रीयता' अपने राष्ट्र का अपमान या क्षति को स्वीकार नही करती तथा किसी अन्य राष्ट्र को क्षतिग्रस्त या अपमानित नहीं करती। संस्कृत कवि श्री ओमप्रकाश ठाकुर द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रदेव की अर्चना का एक अंश दर्शनीय है-

मोदस्व विश्ववन्दित भारत, स्वप्राणसुभैस्त्वामर्चामः।
आसेतु हिमाचलमाकीर्णा, दिव्या विभूतयः पदे पदे।।
विद्यातपसां तेजोदीप्तं सन्तस्त्वां स्तुतिभिर्वन्दन्ते।
एषा पावन गंगागोदा, रवितनया कृष्णा कावेरी।।
तुंगा चेयं पर्वतमाला, यस्या विभेति तावकवैरी।
अविचिन्त्यशक्तिधर राष्ट्रदेव, भक्त्या तव पदयोः प्रणमामः।।[3]

राष्ट्र की सुरक्षा एवं एकता दोनों एक दूसरे के पूरक तत्व हैं। यदि राष्ट्रीय सुरक्षा में कमी होती है तो राष्ट्र-विरोधी तत्व आतंरिक शान्ति में बाधक बनते हैं। अतएव राष्ट्रवासियों के भीतर राष्ट्र प्रेम रूपी जो ऊर्जा है, जो तेज है, उसे जाग्रत करने का कार्य निरंतर आधुनिक संस्कृत कवि करते रहे हैं-

उत्तिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन् साक्षाद्धि तेजोऽस्य परस्य शौरेः।[4]

साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता और प्रान्तीयता से परे राष्ट्रवासियों के लिए योगी अरविन्द द्वारा किया गया यह आह्वान कितना दिव्य है।

भो भो अवन्त्यो मगधाश्च बंगा, अंगाकलिंगा कुरवश्चसिन्धोः।
भो दक्षिणात्याः श्रृणुतान्ध्रचोलाः वसन्ति ये पंचनदेषु शूराः।।
ये के त्रिमूर्तिभर्जथैकमीशं, ये चैकमूर्ति यवना मदीयाः।
मताह्वये वस्तनयान् हि सर्वान् निद्रां विमुचध्वमहे श्रृणुध्वम्।।[5]

भारत का अति संवेदनशील अंग काश्मीर है, जो सदा संकाटापन्न रहता है, उसकी सुरक्षा का दायित्व समझने वाले कवि प्रो0 हरिश्चन्द्र रेणा पुरकर की निर्भीक वाणी सुनिये-

काश्मीरं भारतजनपदस्यांगभूतं प्रदेशं,
अमरीका को भवति तुलयन् जार्जियोबोस्नियाभ्याम्।[6]
अम्रीका किं सकल जगतो मन्यते रक्षकं स्वं,

निष्प्रत्यूहं जगदधिपतिरूसशक्तेर्विलोपात्।
निर्वीर्या किं सकलवसुधांमन्यतेऽसौ,
नितान्तमीराकं किं भरतविषयंमन्यतेऽसौ विमूढः।।[7]

भारत की प्रगति की कल्पना मात्र से अमरीकी कितना आशंकित होता है, इसकी स्पष्ट शब्दों में की गयी घोषणा संग्रहणीय है।

अम्रीका भारतजनपदंनोन्नतं द्रष्टुकामस्तस्योत्कर्षंह्यपि,
न सहते ज्ञानविज्ञान भूमौ।
सर्वत्रासौ भरतविषयः स्वावलम्बी न,
तिष्ठेदित्यम्रीका प्रवरविषयस्याधमं लक्ष्यमस्ति।।[8]

संस्कृत के कवि मात्र इतना ही कहकर चुप नहीं होते वरन् स्पष्ट शब्दों में अमरीका को सचेत भी करते हैं-

भो अम्रीका जनपदवराध्यक्षवर्याः सुधीन्द्राः,
रक्षाहेतोर्जगति जनतंत्रस्य बद्धादराश्चेत्।
पाकप्रोत्साहितामतितरां भीषणातंकवादं,
रोद्धुं कार्यो भवति सुतरां यत्नवर्यो भवद्भिः।।[9]

इस निर्भीक घोषणा के साथ ही पुष्ट स्वाभिमानवाले कवि डॉ0 प्रकाश पाण्डे का कथन भी सुनिये-

यद्यमेरिकायाः सामर्थ्यं महत् भारतस्यापि शांतिसामर्थ्यम्।
महदेव महांश्चास्य पराक्रमः भूते वर्तमाने भविष्येऽपि।।
भविता येन ततमिदं विश्वमेव पृथिवीकम् शान्ति सन्देशेन।।[10]

आज हमारा दुर्भाग्य है कि भारत के कुछ निवासी यहाँ रहते हुये अमेरिका की प्रशंसा में लगे रहते हैं। भारत के पड़ोसी देश चीन, पाक, नेपाल, बांग्ला देश एवं श्रीलंका आयोजित दुःशक्तियों के कारण सबल बने रहते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ0 रमाकान्त शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है।

स्वदेशं निन्दयन्तो विश्वबन्धुत्वस्यवक्तारः।
फलं कांक्षन्ति ये मूलं बिना, नो वन्दनीयास्ते।।
× × × × × × × × × × × ×
अहो राष्ट्र ध्वजं, गणतंत्रदिवसं ये बहिष्कुर्युः।
किमेते भारतीयाः भारतीयैर्वन्दनीयास्ते।।[11]

राष्ट्रीय एकता का अर्थ उसके निवासियों के बाह्य जीवन से सम्बन्धित विविधताओं के निषेध से नहीं लिया जा सकता। मनुष्यों के

और उसके कार्यों में विविधता होना स्वाभाविक है। एकता कोई ऐसा नियम नहीं जिसे कानूनी तौर पर लागू किया जाये। अपने-अपने गुण, कर्म एवं योग्यता के अनुसार सभी के जीवन वैविध्य-पूर्ण है। वैदिककाल में अपनी मातृभूमि को 'बहुधा विवाचसं जनं विभ्रती' एवं 'नानाधर्माणं जनं यथौकसम् विभ्रती' कहा गया है।

राष्ट्रीय एकता को पाठ्य पुस्तकों के दो चार लेख या कवितायें पढ़ाकर सुदृढ़ नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के निवासियों में अतंर्निहित राष्ट्र चेतना का स्फुरण सम्यक् रूप से हो इसके लिए समय-समय पर हर संस्था में प्राथमिक शिक्षा से उच्च व्यावसायिक शिक्षा पर्यन्त सभी स्थलों में राष्ट्र पर्वों एवं राष्ट्रीय कार्यक्रमों का आयोजन विविध स्तरों पर हो। आज दर्जनों स्कूल, कालेज, महाविद्यालयों में राष्ट्रपर्वों पर ध्वजारोहण की औपचारिकता मात्र होती है। विद्यार्थियों की सहभागिता नहीं रहती, वे घर में बैठकर टी0वी0 के मनपसंद प्रोग्राम देखते रहते हैं। राष्ट्र पर्व के अवसर पर विद्यार्थियों की उपस्थिति अनिवार्य करके विविध राष्ट्र गीतों, वाद विवाद प्रतियोगिता, निबन्ध प्रतियोगिता एवं भाषण प्रतियोगिताओं के माध्यम से उनके अंदर सोयी हुई राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध किया जा सकता है।

आज बढ़ती हुयी साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता, प्रान्तीयता एवं जातीयता राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्व हैं। इन बाधक तत्वों को पुष्ट करती है, वोट परक राजनीति। डॉ0 राजेन्द्र मिश्र की कवित्व पूर्ण दृष्टि में ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

साम्प्रदायिक विद्वेषेवर्णसंघर्ष योजना।
स्वार्थान्धनेतृभिः पुष्टं सर्वमद्यमहीयते।।
अग्निं सन्दीप्य नेतारः स्वयं तिष्ठन्ति दूरतः।
ज्वलन्ति केवलं मुग्धां अनाथं जायते कुलम्।।[12]

राष्ट्र शक्ति का स्फुरण न होने के कारण है। बढ़ती हुयी स्वार्थ परता, धनलोलुपता तथा इसका सहायक तत्व है। भ्रष्टाचार का सहारा लेकर सभी अपने-अपने अभीष्ट की संपूर्ति में लगे हुये है। उनकी ऊर्जा अपने भौतिक कार्यों के लिए ही कम पड़ रही है-उन्हें राष्ट्र के प्रति सोचने की फुर्सत ही कहाँ है। एक व्यक्ति यदि कहीं ईमानदारी या सत्यनिष्ठा से अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता है तो वह अकर्मण्य लोगों की निन्दा एवं प्रताड़ना का पात्र बनता है। भ्रष्टाचार की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी हैं कि उनका उन्मूलन असंभव नही तो दुष्कर अवश्य है।

आज शिक्षा का इतना अधिक व्यवसायीकरण हो रहा है कि वंह पूंजीपतियों की सम्पत्ति होती जा रही है। शिक्षा के क्षेत्र में पग-पग पर कठिनतम प्रतियोगी परीक्षाओं से सामान्य विद्यार्थियों को गुजरना पड़ता है किन्तु पैसे के दम पर पूंजीपतियों या नेताओं के बच्चों के बिना किसी प्रतियोगी परीक्षा के सीधे प्रवेश हो जाता है। यह शिक्षा के स्तर का उन्नतीकरण है या अवनतीकरण। जिन प्रतिभाशाली छात्रों का प्रवेश दुर्लभ हो रहा है, उनकी प्रतिभा किस पतन के रास्ते पर जायेगी, यह कहा नहीं जा सकता। एक के बाद एक होने वाली प्रतियोगिताओं के चक्रव्यूह में फंसा नवयुवा अंत में सब कुछ गंवा कर मात्र डिग्री हाथ में लेकर चतुष्पथ में खड़ा होता है। प्रतिभापलायन इसी समस्या का दुष्परिणाम है। कवि ओमप्रकाश ठाकुर जी की भावनायें इस प्रकार व्यक्त हो रही हैं।

केऽस्मत्समानमूढ़ा प्रतिभां स्वेदशजातां।
परदेशपोषणार्थे, धनमूल्यतां नयामः।।[13]

इसके विपरीत देश के प्रशासक नेताओं के लिए कोई विशेष अर्हता निर्धारित नहीं है उन्हें किसी प्रतियोगिता परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। डॉ0 राजेन्द्र मिश्र जी ने बड़ी निर्भीकता से यह बात रखी है।

न परीक्षा वा शुल्कः साक्षात्कारोऽपि न क्वचित्।
राजनीतौ प्रवेशाय केवलं कीर्तिरिष्यते।।
लेखनीमपि सन्धुर्तं ये क्षमा न कुबुद्धयः।
ते च मंत्रिपदारूदाः शासति प्राज्ञमण्डलम्।।[14]

इनकी महापरीक्षा विचित्र है-

निःशेषकोषी कुरूते क्रमेण, राष्ट्रं ततस्तत्परिपूर्णार्थम्।
निःशेषमुद्रं कुरूते प्रजाश्च, निर्वाचनं नाम महापरीक्षा।।[15]

जनता से सामाजिक समस्याओं के निराकरण की अपेक्षा रखने वाले नेता विचारणीय है-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल जी नेताओं से सीधा प्रश्न करते हुये उन्हें सावधान करते हैं।

देश सेवा लुण्ठना पर्यायभूता वो मते।
किं न पश्यथ नैजचरितं? वदत नेतारो मनाक्।।
× × × × × × × × × × × ×

तनुथ देश सङ्कटं कलहं तथातंकं स्वतः।
किं न तनुथ स्वीय चेतसि राष्ट्रभक्तिं रे मनाक्।।
× × × × × × × × × × ×

ध्वंसितुं मे भारतं यूयं स्थिता यदि तत्पराः।
निश्चितं यूयं विनंक्ष्यथ सावधाना रे मनाक्।।[16]

समाज से जुड़ी छोटी से छोटी समस्या भी राष्ट्र को प्रभावित करती है अतएवं सामाजिक समस्याओं का निराकरण उतना ही अपेक्षित है, जितना कि बाह्य शत्रुओं से देश की सुरक्षा। उक्त समस्याओं का निराकरण क्या राष्ट्र शक्ति जाग्रत हुए बिना मात्र कथनों उपकथनों से सम्भव है।

इन समस्याओं का निदान विचारणीय है। उक्त दोनों ही स्थितियों से निपटने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्रवासी अपने हृदय में राष्ट्रशक्ति को जाग्रत करें और उस शक्ति को सामूहिक रूप से रचनात्मक कार्यों में लगाये। पूरे जन समुदाय में जब राष्ट्र चेतना उत्पन्न होगी तभी समस्याओं का निराकरण संभव है जो जिस क्षेत्र में है, जिस कर्म में लीन है वहीं अपने स्तर से अपनी शक्ति का सकारात्मक प्रयोग करे। हमारी शिक्षा ऐसी हो जो बाल्यावस्था से ऐसे सुदृढ़ संस्कार बच्चों में भर दे कि वे भ्रष्टाचार से घृणा करने लगे, राष्ट्र प्रेम उनका ध्येय हो, सत्य का मार्ग हो, और अंहिसा का कवच हो।

परिवर्तन तभी संभव है जबकि सबके लक्ष्य एक हो। शिक्षा के क्षेत्र के कार्यरत व्यक्तियों को शिक्षा के उच्च्व स्तरीय सुधार के लिए कृत संकल्प होना होगा। जो राजनीति के क्षेत्र में हैं, उन्हें व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने का बीड़ा उठाना होगा। किसी एक व्यक्ति के सजग होने से उतनी सफलता उपलब्ध नहीं होती जितनी सामूहिक संचेतना की जागरूकता से सफलता संभव होती हैं विविध कार्य क्षेत्रों में सामूहिक संचेतना के उदित होने से दुष्कर समस्याओं के समाधान भी सरलता पूर्वक संभव होते हैं।

राष्ट्रशक्ति के पुनर्जागरण हेतु कवि श्री ओम प्रकाश ठाकुर की मंगल कामना है-

हे शक्ति निधौ, हे बालभरत! त्वं पुनः स्वतेजः संधारय।
तब भारतमद्य विपन्नदशम् एतं पुनरेत्य समुद्धारय।।
सामाजिकनैतिकमूल्यानामवमूल्यनमपि देशे जातं,
नीतिर्यांता, निष्ठायाता चारिष्यं ह्रसिमानं यातम्।
सम्प्रति प्रतिभये विकट समये, उत्त्ष्ठिारातीन् प्रविदारय।।[17]

वस्तुतः अपना राष्ट्र व्यक्तिगत अपेक्षाओं से बढ़कर है, सभी देव-देवियों में अग्रगण्य है, पूज्य है, राष्ट्रपूजा से ही समस्त दुःखों का

निवारण संभव है। डॉ0 रवीन्द्र कुमार पण्ड्या जी के शब्दों में भारतमाता सर्वथा पूज्य हैं-

सर्वेषु देवदेवीषु श्रेष्ठा स्वेदशमातृका।
सर्वाग्रे पूजनीया सा, सर्वदुःख विनाशिनी।।
× × × × × × × × × × ×
तस्मादस्तु शुभंनित्यं भारते प्रिय भारते।
सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु भयं विनैव भूतले।।[18]

सन्दर्भ

1. भाति मे भारतम्-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल, पृ0 1
2. भाति मे भारतम्-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल, पृ0 54
3. श्रीठाकुरगीतावली-ओमप्रकाश ठाकुर (अर्वा0संस्कृतम्, 15 अप्रैल 1992, पृ0 17)
4. भवानीभारती-योगी अरविन्द
5. भवानीभारती (18, 23)-योगी अरविन्द
6. हजरतबलप्रकरणम्-प्रो0 हरिश्चन्द्र रेणा पुरकर (अर्वा0संस्कृतम्, 15 जुलाई 1994, पृ0 5)
7. हजरतबलप्रकरणम्-प्रो0 हरिश्चन्द्र रेणा पुरकर (अर्वा0 संस्कृतम्, 15 जुलाई 1994, पृ0 5)
8. हजरतबलप्रकरणम्-प्रो0 हरिश्चन्द्र रेणा पुरकर (अर्वासंस्कृतम्, 15 जुलाई 1994, पृ0 6)
9. हजरतबलप्रकरणम् : अम्रीका हस्तक्षेप-प्रो0 हरिश्चन्द्ररेणापुरकर, पृ0 7
10. गाहि रे कोलम्बस (अर्वाचीन संस्कृतम्, जनवरी 98)-पृ0 11
11. वन्दनीयस्ते-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल (अर्वाचीनसंस्कृतम्, जनवरी 93), पृ0 6-8
12. भारतीपरिदेवनम्-डॉ0 राजेन्द्र मिश्र (अर्वाचीन संस्कृतम्, जुलाई 91), पृ0 16
13. गीतावली-ओमप्रकाश ठाकुर (अर्वाचीन संस्कृतम्, अप्रैल 92), पृ0 45
14. भारतीपरिदेवनम्-डॉ0 राजेन्द्र मिश्र (अर्वा0संस्कृतम्, जुलाई 1991), पृ0 13
15. राजनीति लीलाशताधिकम्-डॉ0 दीपक घोष (अर्वाचीनसंस्कृतम्, अक्टू0 1992)
16. भारतजनताहम्-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल, पृ0 77, 78, 79
17. श्रीठाकुरगीतावली-ओमप्रकाश ठाकुर (अर्वाचीनसंस्कृतम्, अप्रैल 1992), पृ0 21
18. कार्गिलम्-डॉ0 रवीन्द्र कुमार पाण्ड्या (अर्वाचीनसंस्कृतम्, जनवरी 2000), पृ0 37, 39

●

'भारतजनताहम्' की राष्ट्रिय भावना

'भारतजनताहम्' डॉ0 रमाकान्त शुक्ल जी की राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत ओजस्वी रचना है, जो आज के युग में क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिनिधित्व करती है आज भारत जैसे विशाल देश में लोकतंत्र की क्या स्थिति है? प्रशासन लोक को कितना महत्व दे रहा है? भारत की स्वाभिमानी, विनयशील एवं शालीन जनता लोकतंत्र के विकृत रूप को देखकर भी मौन रहती है। क्रान्तिकारी क्रन्दन से उसका अन्तर्मन व्यथित है। वह मौन रहकर भी अन्तर्नाद करती है। अतीत की गौरव गाथा को यादकर वह धैर्य रखती है तथा ईश्वर से प्रार्थना करती है कि भारत कभी भी पुनः परतंत्र न हो, सदा स्वतंत्रता का सच्चे अर्थों में आनन्द प्राप्त करें। भारत की जनता तो सारे विश्व की स्वतंत्रता की अपेक्षा करती है। माँ सरस्वती की वन्दना से ग्रन्थ का शुभारंभ करते हुये कवि ने सुरभारती, वेदवाणी एवं धन्वन्तरि की स्तुति की है तथा महाकाल कालेश्वर के प्रति स्तोत्र पाठ करते हुये महाकालेश्वर की नगरी उज्जयिनी के प्रति शुभाशंसा की है। इस शोध पत्र में कवि के द्वारा मुखरित राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति अपने विचारों को प्रकट करने का मेरा प्रयास है। अहं स्वतंत्रता भणामि-1983, रौतिते भारतम्-1985, राष्ट्रदेवते-1985, भारत जनताहं-1986, एकं सद्बहुधाविलोक्यते भारत-1989, उत्तरमंगलम्-1990, वदतनेतारोमनाक्-1990, ब्रूहि जगन्नाथ स्वामिन्-1991, वन्द्यतां कापि शासानासन्दिका-1995, स्वतंत्रतायाः स्वर्णजयन्ती-1997, लोकतंत्रेऽस्मिन्-1998, भारतस्य विजयोऽयम्-1998, प्रणम्याः कारगिलवीराः-1999, योऽयंकृतः शपथस्त्वया-1999, भावसन्धिः-2000, आतंकवादस्य घोरताण्डवः-2001 तथा भारतस्य जनता समीक्षते-2001, इन 19 वर्षों के अन्तराल में देश की आन्तरिक स्थिति का चित्रण कवि ने उक्त रचनाओं में सम्यक् रूप से किया है। इन रचनाओं पर विहंगम दृष्टिपात करते हुये मैंने उन्हीं के विचारों को जिज्ञासुओं के समक्ष रखने का प्रयास किया है। 'अहं स्वतंत्रता भणामि' सन् 1983 में कवि द्वारा विरचित कविता है। कवि की कल्पना है कि भारत भूमि पर स्वतंत्रता की देवी विद्यमान है जो हर पल यहाँ के शासकों पर तथा यहाँ की जनता की गतिविधियों पर उनके क्रिया कलापों पर दृष्टि रखती है। नेता और जनता दोनों ही उससे छिपे नहीं रह सकते। देश की अन्तर्दशा उसके सामने है। चारों ओर भ्रष्टाचार व्याप्त है। दहेज, बलात्कार एवं हिंसा यहाँ के नित्यकर्म हैं। योग्य सत्पात्र बेरोजगारी के शिकार हैं, वे

मौलिक आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु भटक रहे हैं। अयोग्य धनी हैं एवं पदासीन हैं। ऐसी अराजकता से स्वतंत्रता देवी व्यथित होती हैं। कवि ने स्वतंत्रता रूपी देवी की अंर्तभावनाओं को व्यक्त किया है। वह समस्त शुभकर्मों एवं अशुभ कर्मों का अवलोकन करती है। शुभ कर्मों के लिए आशीष देती है तथा अशुभ कर्मों के प्रति खेद प्रकट करती है। कवि के ही शब्दों में देवी का कथन देखिए-

अहं स्वतंत्रता भणामि मद्वचो निशम्यताम्।
निधाय मानसे च तद् यथोचितं विधीयताम्।।
शुभाः हि कामनाः भवत्कृते समर्पयाम्यहम्।
समुन्नतिं सुखं च वः सदैव चिन्तयाम्यहम्।।
परन्तु वर्तमान या विचित्रकाललीलयाः।
मनाग् विचिन्तिता यदेव वच्मि तन्निशम्यताम्।।
मया न कल्पितं कदापि दुर्बलाभिशोषणम्,
मया न कल्पितं कदापि दुर्जनाभिपोषणम्।
सहेऽखिलं च तद् यथा सहे न तद्विधीयताम्,
अहं स्वतंत्रता मणामि।।[1]

देवी स्वतंत्रता को कष्ट है कि यहाँ पीने के पानी दुर्लभ है किन्तु सुरा पद-पद पर प्राप्त हैं। बातें बड़ी-बड़ी हैं किन्तु क्रियाशीलता की कमी है। सर्वत्र भेदभाव फैला है, ऐसी स्थिति विचारणीय है। देश में व्याप्त हिंसा प्रवंचना, प्रतारणा, चाटुकारिता क्षुधापीड़ित गरीब जनता, फुटपाथ पर सोती हुयी जनता, देह व्यापार में रत युवतियाँ सभी का मार्मिक चित्रण कवि ने देवी के माध्यम से प्रकट किया है। कुछ उदाहरण दर्शनीय है-

जलं न लभ्यते तथा, यथा सुरा पदे-पदे,
वचांसि सन्ति भूरिशो न हि क्रियाः पदे-पदे।
दलाद् दले पलायनं प्रवंचनां क्षणे-क्षणे,
प्रतारणं जने-जने विहिंसनं पणे-पणे।।
अयोग्यता पदोन्नता, सुयोग्यता पदच्युता,
अमोघलाभकारिणीमता च चाटुकारिता।
इयं स्थितिर्विलोकयते यदा, तदा ममस्थितिः,
सदुष्टतां भजेत्कथं? भवद्भिरेव कथ्यताम्।।[2]

देश की नीतिहीनता, अमानवीयता, दुराचारिता से स्वतंत्रता की देवी लज्जावनत होती है। जब भी बहू की दहेज हत्या होती है या

बलात्कार का शिकार कोई नारी होती है तो स्वतंत्रता की व्यथा असह्य हो जाती है। कवि के शब्दों में-

यदा यदा श्रणोम्यहं वधूविदाहपातकम्,
यदा यदा श्रणोम्यहं बलात्कृतिं विहिंसनम्।
तदा तदा भवाम्यरून्तुदव्यथाप्रपीड़िता,
इयं व्यथा प्रणाशमेतु येन तद्विधीयताम्।।
अहं स्वतंत्रता भणानि।[3]

स्वतंत्रता का कहना है, यदि योग्यता का सम्मान नहीं होगा, चाटुकारिता का क्षय नहीं होगा, चिन्तनीय स्थितियों का विलोपन नहीं होगा, तो स्वतंत्रता कभी पुष्ट नही होगी।

अंत में स्वतंत्रता देवी स्वयं मंगल वाचन करती है कि इस देश में कोई भी निर्बल या निर्धन न हो,। सभी स्वावलम्बी हो, समादृत हो, भारत की जनता समादृत हो-

न निर्धनो ननिर्बलो जनोऽत्र कोऽपि जायताम्।
न कस्य चित्समादरो विखण्डितश्च जायताम्।।
निजावलम्बनं जने जने सदा प्रवर्धताम्।
जनो जनोऽस्य भारतस्य मोदताम्, प्रमोदताम्।।[4]

इस प्रकार कवि ने अपने मन की अंर्तव्यथा को तथा अंतनिर्हित मंगल कामना को स्वतंत्रता के मुखरित स्वरों में प्रकट किया है।

सन् 1990 तथा 92 में शुक्ल जो द्वारा लिखित संस्कृत की संगीतमय रचना 'भाति मे भारतम्' दूरदर्शन पर बारम्बार प्रसारित हुई। जिससे जनता के मन में देशभक्ति की भावना संगीतमय स्वरों में संचरित हुई। संस्कृत प्रचारक मण्डल, दिल्ली ने आपको कविरत्न, कवि शिरोमणि तथा संस्कृत राष्ट्रकवि 'अलंकरण' से विभूषित किया है। शुक्ल जी ने 'भाति मे भारतम्' के काव्यपाठ से संस्कृत की ऊर्जा, ओजस्विता तथा संगीतमयता का परिचय पूरे विश्व को दिया है। भारत की शक्ति, सीमा और आकांक्षा प्रसादगुणयुत सरल शैली में अभिव्यक्त हुयी है। मैनपुरी के संस्कृत कवि सम्मेलन के मंच पर 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र ने शुक्ल जी को 'स्रग्विणी-राज' विशेषण अर्पित किया। स्रग्विणी छंद में रचित 'भाति मे भारतम्' में अतीत से लेकर वर्तमान तक भारत की गौरवशाली समृद्धि का विस्तृत वर्णन कवि ने किया था। कवि के मन में विचित्र संवेदना का स्फुरण होता है, उसने देश के गौरव का

वर्णन किया, दीन दशा का नहीं। देश की चिन्तनीय स्थितियों का चित्रण भी उतना ही आवश्यक है, जितना उसके गौरव का। अतः 'रौति ते भारतम्' में कवि ने भारत में व्याप्त गरीबी, बेरोजगारी, हिंसा, दहेज, शिक्षित नवयुवकों की वृत्तिहीनता, नशाखोरी, विद्वेषयुक्त भ्रष्टाचार इत्यादि का चित्रण भी किया है। रेल में विचरण करते भिक्षुक बालकों की दीनहीन दशा कवि के हृदय को व्यथित कर देती है–

रेलयानेषुभिक्षापरान् बालकान्,
अंगहीनानवस्त्रान् दयोत्पादकान्।
गालिभिः पोषितान् न्यक्कृतैस्तोषितान्,
वीक्ष्य चिन्तामयं रौति ते भारतम्।।[5]
यौतुकप्रेप्सुभिर्लोलुपैर्निन्दितेः,
मर्त्यरूपे स्थितैः राक्षसैः कोटिकैः।
दह्यमाना वधूर्वीक्ष्य दुःखेन हा,
रौतिते भारतं, रौति ते भारतम्।।[6]

कवि की मान्यता है कि दुर्दशा का बारम्बार वर्णन करने से तथा क्रन्दन करने से देश की दशा में सुधार नहीं होगा इसके लिए सभी देशवासियों को मिलकर रचनात्मक कार्य करते हुये सक्रिय भूमिका निभानी पड़ेगी–

कीर्तनेनैव वाक्रन्दनेनैव वा,
लोपमेष्यन्ति दोषा न देशस्य वै।
तेन सर्वैः क्रियन्तां सदा सुक्रियाः,
येन भातु प्रसन्नं सदा भारतम्।।[7]

'राष्ट्रदेवते' शुक्ल जी की सन् 1985 की रचना है, जिसमें कवि ने राष्ट्र देव की वंदना अर्चना करने की इच्छा प्रकट की है, किन्तु कवि को राष्ट्र देव की प्रार्थना हेतु संसाधनों का अभाव व्यथित कर देता है। कवि राष्ट्र देव से कहते हैं कि देश की विषम परिस्थितियों में पूजन कार्य सम्भव नहीं है। जब देश में चारों ओर आतंकवाद की काली छाया फैली हो, हिंसक माहौल हो, तब राष्ट्र देव का कीर्तन करना सम्भव नहीं है। पर्यावरण के अशुद्ध होने से तथा गलियों में गंदगी का प्रसार होने से सुगन्धि प्रदान करना उचित नहीं। जहाँ के निवासियों में सुमनीभाव नहीं है वहाँ राष्ट्रदेव को सुमाल्यर्पण करने का औचित्य नहीं है। जहाँ पीने के लिए पानी दुर्लभ है, वहाँ राष्ट्रदेव को अभिषेक कराने का जल कहाँ से उपलब्ध किया जाय। जब चहुँदिक् दहेज हत्या की

चीत्कारें उठ रही हों, वहाँ राष्ट्रदेव की आराधना में स्तोत्र पाठ का गान कौन कर सकता है? ईर्ष्याद्वेष के बवंडर चलने की वजह से राष्ट्र देव के प्रति दीपदर्शन कराने में भी कवि ने अपनी असमर्थता व्यक्त की है-

हा! वधू प्रदाहचीत्कृतीर्निशम्य नित्यशः,
स्तोत्रमापठामि ते कथं नु राष्ट्र देवते।
द्वैषकृत्प्रभंजनो हि यावदेति नो शमं,
दीपकं कथं प्रदर्शयामि राष्ट्रदेवते।।[8]
× × × × × × × × × ×
मिष्टमर्पितं पुरैव 'भाति भारतं' हि ते।
यन्मया कटूक्तमत्र तत्क्षमस्व देवते।।[9]

देश में धनवृद्धि होने पर भी धन निर्धनों तक नहीं पहुँच पाया, अतएव दक्षिणा देना भी सम्भव नहीं। कवि का मन क्षोभ से भरा है। वस्तुतः राष्ट्र में अराजकता नहीं, सुव्यवस्था हो, जनता त्रासदी से मुक्त हो, सभी देशवासियों में ऐक्य और प्रेम का भाव हो, पर्यावरण शुद्ध और सुखद हो, जल के अभाव से कोई त्रस्त न हो, यही राष्ट्रदेव की सच्ची आराधना है।

'भारतजनताहम्' रचना में कवि ने भारत वासियों की विशेषताओं का वर्णन किया है।

भारत की जनता वीरों को नमन करती है, महापुरूषों का स्मरण करती है, अपने देश की प्रगति, सुरक्षा, सुख, गरिमा, एवं निर्भीकता की कामना करती है। वह लोकतंत्र की रक्षा करना चाहती है। विद्वानों का अभिनन्दन करती है। नेताओं की स्वेच्छाचारिता का मौन रहकर अवलोकन करती है तथा राष्ट्र के सशक्त एवं समृद्ध रहने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करती है। 50 छन्दों में कवि ने भारत की जनता का यथार्थचित्रण ओजमयी वाणी में किया है-

अभिमान धनाविनयोपेता,
शालीना भारत जनताहम्।
× × × × × × ×
देशे निरागसां संहारं,
लुण्ठनं सतां च वधूदाहान्।
श्रावं श्रावं दर्शं दर्शं,
व्यथमाना भारतजनताहम्।।

× × × × × × ×

शासनासन्दिकामधिरोढुं,
प्रतिनिधयो मे कुर्वन्ति न किम्।
तां प्राप्य केऽपि यां विस्मरन्ति,
मुग्धा सा भारत जनताहम्।।[10]

गंगा की धारा के समान भारत की जनता भारतीय संस्कृति का संपोषण करती हुयी नित्य प्रवहमान है तथा भारत के मंगलमय भविष्य के लिए शुभेच्छा करती है।

परतन्त्रो मा भूत्क्वापि कोऽपि,
सर्वः सर्वत्र सदा नन्दतु।
जगतः स्वतंत्रामिच्छन्ती,
मोदे खलु भारत जनहताहम्।।[11]

कवि व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर राष्ट्र के साथ एकीभाव रखते हुये राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने के लिए आकुल-व्याकुल है। उनकी यही आकुलता कविता में प्राणों का संचार कर देती है। देश की दयनीय स्थिति के लिए नेताओं को जिम्मेदार मानते हुये 'वदतनेतारोमनाक्-1990', में कवि ने हुंकारमयी वाणी में नेताओं को ललकारा है, जो शपथ लेते समय बोले गये वचनों का मोल नहीं समझते। जनता से सामाजिक समस्याओं का निवारण करने की अपेक्षा रखते हैं किन्तु स्वयं ही वचनों की अवहेलना करते हैं। नेताओं पर व्यंग्य की बौछार करते हुये कवि ने स्पष्ट किया है कि नेता जनसमस्याओं को अनदेखा करते हैं। उनकी वाणी में कुछ और करनी में कुछ और होता है। कवि ने नेताओं को चेतावनी दी है-

यातु देशोह्यन्धकूपे रक्षितं स्यान्मे मतम्।
इति विचार परम्परापरां स्वां त्यजत् नेतारो मनाक्।।
× × × × × × × × × × × × ×

चिन्तयथ नित्यं स्वकीयं हितमपरिमितमेव रे।
चिन्तयध्वं देशहितमपि लोलुपा यूयं मनाक्।।
युष्मदीयैर्नित्यकृत्यै राष्ट्रदेवी लज्जिता।
निस्त्रपाजीवथ न मज्जथ चुलुकवारिणि रे मनाक्।।
× × × × × × × × × × × × ×

शासनासन्दीमवाप्य व्रजत नो गर्वंक्षणम्।
आगते विपरीतकाले कोऽपि रक्षति किं मनाक्।।

भारत में लोकतंत्र की जो दयनीय स्थिति चल रही है, उसका विशद चित्रण कवि ने 'लोकतंत्रेऽस्मिन्' में किया है। देश में व्याप्त भ्रष्टाचारिता, चाटुकारिता, जनता के प्रति प्रवंचना इत्यादि कुप्रवृत्तियों को रोकने का कोई भी सार्थक प्रयास उपलब्ध नहीं है। लोकतंत्र की वर्तमान स्थिति यह है कि अपने अभीष्ट सिद्धि के लिए मयूर, सर्प एवं नेवला एक ही मंच पर एकत्रित हैं। कुंती पुत्र और गांधारी पुत्रों में कोई अंतर नहीं रह गया है। आश्चर्य तो यह है कि अग्नि और नवनीत में भी मित्रता प्राप्त हो रही है।

अहो हैयंगवीनं सख्य,
मिच्छत्यग्निना साकम्।
कदल्या मित्रता दृष्टा,
बदर्या लोकतंत्रेऽस्मिन्।
न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं,
न कश्चित्कस्यचिच्छत्रुः।
मतार्थं शात्रवं मैत्री,
भवति भो लोकतंत्रेऽस्मिन्।।[13]

जनता की आशाओं के प्रतीक प्रतिनिधि लोकतंत्र में लोक की अवहेलना करते हैं। नेताओं के सभागार युद्ध स्थल हो गये हैं। कोई पार्टी छोड़कर नया दल बना लेता है। कोई किसी अन्य पार्टी को अपना लेता है। इनकी अपनी पार्टी के प्रति भी निष्ठा नहीं है। जिस जनता के वोटों के बल पर नेता जीतते हैं उसी जनता को ठगने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

जनैर्दत्तं मतं यस्मै, प्रतार्यास्तेन ते जाताः।
स्वतंत्र भारतं किं किं न पश्यति लोकतंत्रेऽस्मिन्।।[14]

ओजमयी प्रवाहपूर्ण भाषा में कवि ने नेताओं को सम्बोधित कर गलत कार्यों को छोड़कर देशभक्ति एवं जनता की सुख समृद्धि की ओर ध्यान दिलाते हुये अपनी उद्‌बोधन शक्ति का परिचय दिया है। वस्तुतः शुक्ल जी की रचनायें जन मानस में जोश एवं उमंग जगाकर अन्याय, अत्याचार के प्रति विद्रोह एवं क्रान्ति जगाकर नूतन युग का आह्वान करने में सक्षम है। उनके विचार में राष्ट्र के दायित्वों का निर्वहन करने वाले अधिकांश नेतागण अपने द्वारा ली गयी शपथ का अर्थ भी नही समझते-

योऽयं कृतस्शपथस्त्वया तस्यार्थमपि जानासिकिम्?
यदिदं प्रतिज्ञातं त्वया तस्याशयं जानासि किम्?
कर्तुं यथा सरल स्तथा शपथो न निर्वोढुं सखे!
शपथस्य निर्वाहो भवति कण्टक पथानुसृतिः सखे।।
× × × × × × × × × × × ×
रक्ष प्रतिज्ञामात्मनो वर्धय तपः स्वं प्रत्यहम्।
शपथं हि पूरय शुद्धमनसा, ते हितं कथयाम्यहम्।।[15]

कवि ने अपनी मनोव्यथा प्रकट करते हुये स्पष्ट कहा है-

न दूयेऽहं रूजो वित्तस्य नाशाद्बन्धुनाशाद्वा,
न दूयेऽहं सभायां मेऽपमानाद् मित्रघाताद् वा।
न दूये पुत्रशाठ्याद्वाप्युपेक्षायाः स्वजायायाः,
परं राष्ट्रस्य वैवश्यं विलोक्याहं भृशं दूये।।[16]

अन्ततोगत्वा कवि का दु:खी मन जगन्नाथ स्वामी की शरण में ही विश्राम पाता है और ईश्वर से ही जानना चाहता है कि उक्त सभी समस्याओं का समाधान कैसे सम्भव होगा?

किं भवति जगति ते बूहि जगन्नाथ स्वामिन्!
ये शुभ्रकञ्चुका अवलोक्यन्ते नेतारः।।
प्रायशः प्रजातन्त्रस्य सन्ति हन्तारः।
× × × × × × × × × × ×
कुरू कृपां सपदि संसृतो जगन्नाथ स्वामिन्।।
× × × × × × × × × × ×
कुरू नः सत्पथगानाशु जगन्नाथस्वामिन्।
किं भवति जगति.....................।।[17]

अंत में कवि ने 'उत्तरमंगलम्' में मंगल कामना प्रकट की है कि 21वीं सदी में सभी समस्याओं का समाधान सुलभ हो जाय, समाज में होने वाली कुरीतियों, नूतन अपराध इत्यादि सभी विलुप्त हो जाये। सभी स्वस्थ हों, अपने-अपने कार्यों में संलग्न हों, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो-

वाचि विद्या, करे कर्म, दृष्टौ दया,
पादयोश्च प्रकृष्टा गती राजतम्।
सुप्रवृत्तेन्द्रियैस्तोषभीयुर्जना,
नूतने वत्सरे ते मवेन्मंगलम्।।[18]

सन्दर्भ

1. भारतजनताहम्, अहं स्वतंत्रताभणामि, पृ0 23
2. भारतजनताहम्, अहं स्वतंत्रताभणामि, पृ0 24, 25
3. भारतजनताहम्, अहं स्वतंत्रताभणामि, पृ0 24
4. भारतजनताहम्, अहं स्वतंत्रताभणामि, पृ0 26
5. भारतजनताहम्, रौति ते भारतम्, पृ0 27
6. भारतजनताहम्, रौति ते भारतम्, पृ0 28
7. भारतजनताहम्, रौति ते भारतम्, पृ0 30
8. भारतजनताहम्, राष्ट्र देवते, पृ0 32
9. भारतजनताहम्, राष्ट्र देवते, पृ0 32
10. भारतजनताहम्, पृ0 35, 38, 39
11. भारतजनताहम्, पृ0 42
12. भारतजनताहम्, वदतनेतारोमनाक्, पृ0 78, 79
13. भारतजनताहम्, लोकतन्त्रेऽस्मिन्, पृ0 106, 109
14. भारतजनताहम्, लोकतन्त्रेऽस्मिन्, पृ0 109
15. भारतजनताहम्, योऽयंकृतश्शपथस्त्वया, पृ0 121, 124
16. भारतजनताहम्, भावसन्धिः, पृ0 25
17. भारतजनताहम्, ब्रूहि जगन्नाथ स्वामिन्, पृ0 85, 86
18. भारतजनताहम्, उत्तरमंगलम्, पृ0 71

'आद्याचतुश्शती' में राष्ट्रिय चेतना

'आद्याचतुश्शती' संस्कृत विभाग के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति कवि आद्याप्रसाद मिश्र जी के समग्र जीवन में अर्जित वैचारिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक चिन्तन की परिपक्व परिणति है, जो काव्य के माध्यम से प्रस्फुटित हुयी है। इसमें भारतीय संस्कृति का सार सर्वस्व समाहित है। वर्तमान समय में जो जिज्ञासु अल्पसमय में भारतीय चिन्तन एवं भारतीय संस्कृति से परिचित होना चाहते हैं उनके लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में कवि का अध्यात्म परक चिन्तन, राष्ट्रीय चिन्तन, कालबोध मानवमूल्यों की महिमा, असार संसार का सारभूत तत्त्व 'प्रेम' के विषय में सारगर्भित भावों की अभिव्यक्ति छन्दों के माध्यम से सरल, सहज भाषा में की गयी है। जो प्रसाद गुण संपन्न होने के कारण अनायास ही सहृदय पाठकों के अंतस् में समाहित हो जाती है। कवि के राष्ट्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रखण्ड एवं मातृभूमि खण्ड में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। कालखण्ड, सन्नीति खण्ड, सच्छिक्षा-खण्ड, प्रेमखण्ड एवं सदाचार खण्ड राष्ट्रीय चिन्तन को पुष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

किसी भी राष्ट्र में, राष्ट्र में रहने वाले नागरिकों में, अपने राष्ट्र के प्रति उदात्त गौरव की अनुभूति होनी चाहिए। इस हेतु स्वराष्ट्र की अतीत से जुड़ी हुयी गौरव गाथा का बार-बार अनुशीलन, राष्ट्र की भोगौलिक एवं प्राकृतिक सम्पदाओं का दर्शन, अपनी संस्कृति के प्रति सत्यनिष्ठा का भाव, भावी पीढ़ी में सम्प्रेषित करने का कर्तव्य निर्वाह कवि ने सम्यक् रूप से किया है।

'भारत गौरवम्' में भारत की सीमाओं का परिचय देते हुये अपने राष्ट्र के प्रति असीम आस्था कवि ने प्रकट की है तथा मंगल कामना की है कि भारत देश सदैव शक्ति सम्पन्न रहे। भारत देश की अखण्डता का बोध कराने वाली ध्वजा भारत की अपराजेयता को अबाधगति से दिदिगन्त में फहराती रहे। कवि के शब्दों में ओजस्वी अभिव्यक्ति दर्शनीय है-

सदा अखण्ड एक ऊर्जस्वी,
भवतु पृथिव्यामुन्नति शीलः।
दोधूयेत् पताका नित्यं,
विजयी सदा भवेदविनाशी।।[1]
भारत देशः सर्व महान् ....।।

जिस मातृभूमि में हमें जन्म प्राप्त हुआ है, जो हमारा नित्य भरण पोषण करती है, बिना किसी भेदभाव के समग्र प्राणियों को धारण करती है; वह सभी के द्वारा वन्द्य है, पूज्य है। वह सब कुछ प्रदान करने वाली है, उसका यशोगान अवश्य करना चाहिए। 'नमो मात्र्यै **पृथिव्यै**' वैदिक काल से वर्तमान समय तक भारतीय मनीषियों ने '**पृथिवी**' को '**माता**' सम्बोधन दिया है। जन्म देने वाली 'जननी' एवं 'जन्मभूमि' दोनों ही पूज्य हैं। समस्त प्राणिलोक को धारण करने से ही '**पृथिवी**' धरा है। जिस प्रकार माता जन्म देकर अमृत पान कराती है, विविध सेवाओं से शरीर पुष्ट करती है, सुसंस्कारों से चित्त को संस्कारित करती है। इसी प्रकार मातृभूमि पयस्विनी धाराओं से पय:पान कराती है। हरे-भरे वृक्षों की सुखद शीतल छाँव से सुसज्जित अंक में बिना किसी भेदभाव के समस्त प्राणियों को धारण कर फल-फूल, अन्न-जल, वायु से सभी का भरण पोषण करती है। वस्तुतः वह माँ से बढ़कर है, सर्वथा सर्वदा पूज्य है। कवि की मातृभूमि के प्रति बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति है-

स्वजन्मभूमिः प्रियमातृभूमिर्यतोहि सा मातृसमं दधाति।
अस्मान् स्वपुत्रान् फलवारिखाद्यैर्वन्द्या ततः सा निजभक्त पुत्रैः।।[2]

माता धारित्री च तथैव सृष्टे-,
राधारभूतास्ति च तस्य हेतोः।
गरीयसी मातृसमैव सर्वै-,
र्विदग्धलोकैरवगम्यते हि।।[3]

मनीषी कवि मिश्र जी ने किसी भी राष्ट्र को समुन्नत रखने के लिए प्रमुख रूप से तीन तत्त्वों की अनिवार्यता का उल्लेख किया है-

(1) राष्ट्र के अतीत की पूर्व उपलब्धियों की श्रेष्ठता से उत्पन्न स्वाभिमान का भाव प्रत्येक नागरिक में होना।

(2) किसी भी राष्ट्रीय पर्व या राष्ट्र के कार्य में बिना किसी भेद-भाव के सभी नागरिकों का सम्मिलित होकर कार्य करना।

(3) सभी नागरिकों के मन में ऐक्य का भाव निहित होना।

उक्त तीन बातों का ध्यान यदि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक करें तो राष्ट्र की निर्बाध उन्नति को कोई रोक नहीं सकता। इस सन्दर्भ में कवि की वाणी से निस्सृत ये छंद दर्शनीय हैं-

कस्यापि राष्ट्रस्य समुन्नतस्य,
त्रीण्येव तत्त्वानि भवन्ति चिह्नम्।
तेषु स्वजातरेमिभान एकं,
पूर्वोपलब्धिष्वभिजात हेतुः।।[4]
सम्भूयकारित्वमशेषजाते,
ऐक्यं च तस्या अपि लक्षणे वै।
एवंविधं राष्ट्रमशेषराष्ट्रे,
ष्वौन्नत्यभाग्निश्चितमेव नित्यम्।।[5]

विश्व में वही राष्ट्र सशक्त एवं समृद्ध हो सकता है जिसके पास पर्याप्त बल अर्थात् सैन्य शक्ति हो। वैदिक काल से अब तक सभी मनीषियों ने यही उद्घोषणा की है कि जो राष्ट्र शत्रुओं से अपने राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा करने में समर्थ है, वही बलवान है।

अन्नादि खाद्यपदार्थों की आपूर्ति के लिए जो राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सामने निर्बलता नहीं प्रकट करते, वस्तुतः वही राष्ट्र सुदृढ़, सशक्त एवं समृद्ध होते हैं। तदनुकूल उस राष्ट्र में वैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं का विकास होता है। सैन्य शक्ति एवं अर्थशक्ति तथा प्राकृतिक सम्पदाओं से धनी राष्ट्र पर कभी आक्रमण की आशंका नहीं होती, क्योंकि विश्व के सभी राष्ट्र ऐसे सबल राष्ट्र का आदर करते हैं।

कवि का यह मन्तव्य इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है-

एवं द्विविध बलवान् देश एव बलीमतः।
तमाक्रान्तुं न कस्यापि साहसं वर्तते ध्रुवम्।।[6]

'आद्याचतुश्शती' के राष्ट्र खण्ड में कवि मिश्र जी ने राष्ट्र निर्माण के सम्यक् उपायों का निर्देशन भी किया है। यथा-

(1) देश में सर्वत्र अराजकता विद्यमान है जिसका कारण अनुशासन हीनता है। अनुशासन हीनता दूर करने के लिए कठोर नियमों का निर्वहन किया जाये। देश के सभी नागरिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में अनुशासन को व्यवहारिक रूप प्रदान करें।

(2) सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण का दूसरा हेतु है देश के सभी निवासी पवित्र आचरण का पालन करें। पवित्र आचरण में सर्वाधिक महत्व 'अर्थशुचिता' अर्थात् धन विषयक पवित्रता का पालन करना है वे लोग निन्दनीय हैं जो धन के विषय में पवित्र नहीं होते। 'सदाचार खण्ड' में मनीषी कवि मिश्र जी की स्पष्ट उक्ति है-

सोऽर्थस्त्याज्यो ज्ञेयो यत्संग्रहे प्राणिवधोऽनिवार्यः।
उताहो क्लेशोऽन्यस्य परित्यागो वा स्वधर्मस्य।।[7]
सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः स हि शुचिः प्राहैवं भगवान् मनुः।।[8]

जिस राष्ट्र में न अनुशासन का पालन होता है, न ही आचरण की शुद्धता का, जहाँ धन के विषय में ईमानदारी नहीं होती, वह राष्ट्र भ्रष्ट होता जाता है। उसके विकास के मार्ग अवरूद्ध हो जाते हैं। अतएव समुन्नत राष्ट्र को सुविकसित करने के लिए भ्रष्टाचारिता एवं अनुशासनहीनता को दूर करने के लिए प्रत्येक नागरिक को कटिबद्ध होना होगा।

(3) सशक्त राष्ट्र के निर्माण हेतु तीसरी अनिवार्यता है कि राष्ट्र में रहने वाले सभी प्राणी पूर्णतः स्वस्थ हों। स्वस्थ राष्ट्र के लिए स्वस्थ पर्यावरण की अति आवश्यकता है। शुद्ध पर्यावरण के बिना स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राष्ट्र के स्वस्थ न होने पर वहाँ किसी प्रकार के विकास की सम्भावना नहीं होगी। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सभी शक्तियों का विकास पर्यावरण के शुद्ध रहने पर ही सम्भव है। अतः कवि मिश्र जी ने 'आद्याचतुश्शती' के राष्ट्र खण्ड में पर्यावरण की शुद्धता हेतु कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं-

कवि का बड़ा ही उपयोगी एवं सुन्दर सुझाव है-

वायुर्विशुद्धः प्रचुरा च वृष्टिर्मृद्रक्षणं पादपकार्यमेव।
विकारि पर्यावरणस्य शुद्धौ वृक्षाः सहाया न हि केचिदन्ये।।[9]

नीम, वट, पीपल, पाकर जैसे वृक्षों के आरोपण से पर्यावरण सुरक्षित तथा संशोधित होता है। इससे भूमिगत जल का संरक्षण एवं संवर्धन होता है। भूमि के अन्दर घटता हुआ जल स्तर आज सभी के लिए चिन्ता का विषय है। इसका कारण वृक्षों की अंधाधुंध कटाई है। वृक्षों की कटाई से पक्षियों का जीवन प्रभावित होता है। उनका आवास नष्ट होता है, पक्षियों की संख्या में अत्यधिक कमी होती जा रही है, जो कि पर्यावरण के लिए घातक है। वृक्षों के आरोपण एवं संवर्धन से भूमि क्षरण कम होता है। जल भंडारण निश्चित समय तथा स्थान पर होता है, वर्षा प्रभावित नहीं होती। जिस देश में जनता पीने के पानी के लिए त्रासदी झेल रही हो, उस देश के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कूड़े-कचड़े के निवारण की समुचित व्यवस्था न होने से भी पर्यावरण निरन्तर अशुद्ध हो जाता है। पर्यावरण की शुद्धता मात्र

विचार करने से सम्भव नहीं, इसके लिए रचनात्मक कार्य किये जाने की आवश्यकता है। इस महान कार्य के लिए मनीषी कवि मिश्र ने युवा शक्ति का आह्वान किया है। यदि समुचित शिक्षा द्वारा युवाओं को इस ओर प्रेरित किया जाय तो वे इस कार्य में सहजतापूर्वक सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं-

राष्ट्रोचितेऽस्मिन् परमेच कार्ये,
यूनां सहस्त्रस्य महोपयोगः।
तत्सेवया किन्न भवेद्धि शक्यं,
देया ततोऽस्या उचिता सुशिक्षा।।[9]
अश्वत्थजम्बूवटपर्कटीनां,
रोपोद्गमापातनरोधनं च।
अभ्यन्तरोपद्रवनाशनं च,
स्वराष्ट्रसीमा परिरक्षणं च।।[10]

राष्ट्र सेवी युवाओं में निरन्तर यह मान निहित होना चाहिए-

तारूण्ययुक्तेषु च राष्ट्रभावः,
प्रपूरणीयः सुतरां प्रयासैः।
दत्त्वा च प्राणानपि मातृभूमेः,
र्मानः सुरक्ष्यः सुतरां सुवीराः।।[11]

युवा शक्ति द्वारा परिरक्षित शुद्ध पर्यावरण होने पर जल संचयन, जल सवंर्धन, जल संरक्षण की समस्या का समाधान होगा। जगत में जल ही जीवन है। जल के बिना जीवन असम्भव है। वृक्ष ही श्वास है, अतः इस ओर जागरूक होने की महती आवश्यकता है। वस्तुतः इस कार्य में सक्रिय भूमिका निभाने का कार्य सभी देश वासियों का है। अशुद्ध पर्यावरण के प्रभाव से शारीरिक दोष तो उत्पन्न होते ही हैं, मानसिक दोष भी विकृति प्रदान करते हैं।

आज संसार में सर्वत्र ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य एवं कटुता का साम्राज्य दिखाई पड़ता है। मनुष्य को अपने दुःखी होने का दुःख नही है, वह दूसरे के सुखी होने से दुःखी है। दूसरों की उन्नति, समृद्धि, सुस्वास्थ्य एवं सुसन्तति ही उसके लिए क्लेश कारक है। स्वार्थ परता चरम सीमा पर है। हर व्यक्ति की यही इच्छा है कि सब प्रकार से सर्वोत्त्म उसे ही प्राप्त हो। मनुष्यों के मन आज आक्रोश युक्त हैं। सद्भाव से कही हुई बात भी उसे उद्विग्न कर देती है। भौतिकतावादी एवं उपभोक्तावादी

संस्कृति का प्रसार संचार साधनों के द्वारा विज्ञापन के माध्यम से निरंतर मनुष्य को कुंठित करता हुआ प्रभावित कर रहा है। अधिकाधिक सुख साधनों का संचयन मानव को मानव से दूर करता रहा है। हिंसात्मक प्रवृत्ति की मानसिकता फैली हुयी है।

अहिंसात्मक प्रवृत्ति का विकास करने के लिए, प्राणिमात्र के संरक्षण के लिए, मानव जाति के संरक्षण के लिए एवं धरा को शांतिमय बनाये रखने के लिए आज प्रेम के अंकुरण की आवश्यकता है।

यदि मानव मात्र में प्रेम का बीज अंकुरित हो जाय तो सकल समस्याओं का समाधान अवश्यम्भावी है। कवि मिश्र जी ने 'आद्याचतुश्शती' में 'प्रेम' तत्त्व का सारगर्भित वर्णन किया है जो सुग्राह्य है। प्रेम इस असार संसार का सार है। कवि के शब्दों में-

शुद्धं परप्रेम हि लोकमध्ये,
परस्परं विद्यत एव यावत्।
तावन्न काचिद्ध्युदियात् समस्या,
उदेति चेत्तर्हि समाहिता स्यात्।।[12]

संघर्षों का समाधान प्रेम में ही निहित है। यह शांति का साम्राज्य फैलाने का सुकर उपाय है। प्रेम का अंकुरण होते ही असत्य और हिंसा स्वतः लुप्त हो जाते हैं। कटुता पारस्परिक संबंधों को नष्ट कर देती है। कटुता का निवारण प्रेम के दो बोल में है, किन्तु लोग उसका प्रयोग नहीं करना चाहते। निःस्वार्थ प्रेम में निश्छल स्वभाव की अपेक्षा होती है। 'स्व' के समर्पण के बिना शुद्ध प्रेम की उपलब्धि नहीं होती है। प्रेमभाव के लिए सभी के प्रतिसमत्व बुद्धि की आवश्यकता होती है। समत्व बुद्धि का प्रवेश तभी होता है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण रखे। समत्व बुद्धि होने पर ही दूसरों के हित में अपना हित दिखाई पड़ता है। प्रेमी व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति प्रेमप्लावित होने से जहाँ भी दुःख देखेगा वहीं उसे दूर करने का प्रयास करेगा। प्राणी मात्र की पीड़ा उसकी पीड़ा होगी। कवि ने अपने जीवन की परिपक्व अनुभूतियों से उपलब्ध सार तत्त्व को इस रूप में व्यक्त किया है-

स्वजनवियोगजं दुःखं स्मृत्वा जागर्तिकेऽभीष्टवस्तुनि।
धृत्या त्यक्त्वासक्तिं, परमात्मन्येव तां कुर्यात्।।[13]

परमात्मा के प्रति प्रेम वस्तुतः परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होता है, उसके लिए निर्मल मन एवं निश्छल स्वभाव की आवश्यकता हैं।

सभी प्राणियों में परमात्मा ही विद्यमान है वह विश्वरूप है। सूर्य, चन्द्र, तारे, समुद्र, हिमालय, पृथिवी आदि सभी उसकी विभूतियाँ हैं। इनसे प्रेम करना ही सच्ची प्रीति है। इनसे कभी वियोग नहीं होता एवं मन में सदैव आनंद की अनुभूति बनी रहती है।

राष्ट्र के विकास एवं निर्माण में सहायक शुद्ध पर्यावरण तथा निर्विकार मानसिकता इन सभी की उपलब्धि शिक्षा के माध्यम से की जा सकती है। शिक्षा ही वह संसाधन है जिसके द्वारा भावी पीढ़ी में निहित अन्तर्शक्तियों का सम्यक् विकास सम्भव है। शिक्षा का वही रूप ग्राह्य है, जिससे छात्र की अन्तर्निहित शक्तियाँ विकसित हों। ये विकास भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों का समन्वित रूप हो। यदि भौतिक शिक्षा को ही महत्व दिया जाय, नैतिक मूल्यों एवं अध्यात्म शिक्षा की उपेक्षा की जाय तो मानवीय संवेदनाओं से शून्य दानवी प्रवृत्ति युक्त यंत्र तैयार होने लगेंगे, जिनसे समाज के समुन्नयन की संभावना ही नहीं होगी।

या शिक्षा पदप्राप्तियोग्यतामेव केवलं जनयति।
मानवमूल्योत्पत्त्या जीवनं न करोति सार्थकम्।।
यस्यां शिक्षारीतौ नैतिकमूल्येषु बलं न दीयते।
सा मानवमत्यन्तं दानवमेव करोत्यन्ततः:।।[14]

आधुनिक शिक्षा प्रणाली से कवि मिश्र जी सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी पीड़ा उन्हीं के शब्दों में व्यक्त हुई है।

शिक्षाप्रणाल्याधुनिकी स्वदेशे,
या वर्तते सा नहि पूर्वरूपा।
अध्यात्मविज्ञान समन्वयोऽस्ति,
नास्यत्र दृष्टो न च तत्प्रयासः।।
समन्वयस्याभावो हि यो विज्ञानात्मज्ञानयोः।
सत्त्वाधुनिकशिक्षायाः सर्वतोऽप्याधिका त्रुटिः।।[15]

वैज्ञानिक शिक्षा एवं अध्यात्मज्ञान में समन्वय न होना ही आज की शिक्षा प्रणाली का दोष है।

संवेदना विहीन शिक्षित व्यक्ति कभी लोकोपकारक नहीं हो सकता। दूसरों के प्रति होने वाली संवेदना को मनुष्य का उत्तम गुण समझना चाहिए। 'संवेदना' 'प्रेम' से पोषित होती है। आधुनिक शिक्षा में पारस्परिक प्रेम विकसित करने का उपाय भी होना चाहिए क्योंकि प्रेम ही सम्वेदना का मूल है-

प्रेमैव मूलं समवेदनायाः,
प्रेमैव मूलं सहकारितायाः।
प्रेमैव सारं खलु जीवनस्य,
तच्छून्यशिक्षा न भवेद्धि शिक्षा।।[16]

प्रेम ही जिसका मूल है, उस सहकारिता के विकसित होने पर ही राष्ट्र की समुन्नति निश्चित है। क्योंकि परस्पर सहकारिता की भावना ही सारी उन्नति का एकमात्र मूल है-

मानुष्य मूले सहकारतत्त्वे,
जाते ध्रुवा राष्ट्र समुन्नतर्हि।
यतो मिथस्सा सहकारितैव,
सर्वोन्नतेरस्ति हि मूलमेकम्।।[17]

राष्ट्र के समुन्नयन हेतु सच्छिक्षा की बात करते हुये मनीषी कवि प्रो० मिश्र जी ने बड़ी महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है-वह है 'कालबोध'। समय की महत्ता न समझना आज की सबसे बड़ी भूल है। प्रत्येक कार्य को निरन्तर टालते जाना, अवसर का सदुपयोग न करना, कार्य की अपूर्णता पर दूसरों पर दोषारोपण करना। ये सभी समुन्नति के बाधक तत्व हैं। अतएव कवि प्रो० मिश्र जी ने समय के प्रति जागरूक रहने की चेतावनी दी है-

नायाति कालो विगतः कदापि,
व्यर्थंततस्तं न नयेद् विवेकी।
काले क्रियाणां करणेन देही,
कार्यस्य सिद्धौ लभते प्रतिष्ठाम्।।[18]

समय की महत्ता को न जानने वाला, कल्याणकारी योजनाओं को उचित समय पर प्रयुक्त न करने वाला राजा भी निंदा का पात्र होता है। कवि के शब्दो में-

स्वकीय कल्याणकरीश्च योजना,
अकाल एव व्यवहार आनयन्।
नृपोऽपि युक्तावसरानभिज्ञः,
साफल्यराहित्यकृते विनिंद्यः।।[19]

यह काम अभी नहीं, कल सम्पन्न किया जायेगा, ऐसा विचार विवेकशील व्यक्ति कभी नहीं करते, क्योंकि भविष्य पर अपना कोई वश नहीं है।

आगमिकालेष्विदमेव कार्यं,
द्रुतं करिष्येऽवसरेऽनुकूले।
ईदृक्विचारो न कदापि युक्तो,
यतो भविष्यं न कदापि वश्यम्।।[20]

किसी भी कार्य को भविष्य के लिए टालना हितकर नहीं है। कल किया जाने वाला कार्य आज ही करना चाहिए क्योंकि कल को किसी ने कभी नहीं देखा है। जब तक शरीर में प्राण है, तभी तक कार्य को करने का समय है-कवि मिश्र ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में समय की अवहेलना का निषेध किया है।

ततस्तु कार्यस्थगनं न युक्तं,
सद्यो हि सम्पादनभस्य युक्तम्।
यावन्नवद्वारेपुरेऽसवः स्युः,
कार्यं समाप्यं खलु तावदेव।।[21]

इस प्रकार समय के प्रति जागरूक होना आज के समय की बहुत बड़ी माँग है। यदि देश के नागरिकों में स्वदेश के प्रति स्वाभिमान हो, राष्ट्रीयता का भाव प्रत्येक निवासी में हो, सभी एकता के सूत्र में प्रेम से आबद्ध हो, अपने पर्यावरण की शुद्धि हेतु वृक्षारोपण एवं जल संरक्षण हेतु सचेष्ट हो, तो राष्ट्र के समुन्नयन में कोई बाधा विप्लवकारी नहीं हो सकती।

हम सभी धन्य हैं जो हमें राम कृष्ण की पावन धरती पर जन्म प्राप्त हुआ है, रहने का सौभाग्य मिला है। हम बारंबार इस राष्ट्र को नमन करते हैं। कवि मिश्र जी के शब्दों में-

राष्ट्रभूम्यै नमो मातृभूम्यै नमः।
देशभूम्यै नमो जन्मभूम्यै नमः।।
सर्वमात्रे नमः सर्वधात्र्यै नमः।
सर्वदात्र्यै नमः सर्वदैव्यै नमः।।
सर्व वन्द्या च या, सर्वपूज्याचया।
तद्यशः सर्वदा निश्चितं गायत।।[22]

सन्दर्भ

1. आद्याचतुश्शती, भारत गौरवम्, राष्ट्र खण्ड:, मातृभूमि खण्ड:, पृ0 56
2. आद्याचतुश्शती, जन्मभूमिः, मातृभूमिखण्ड:, पृ0 175
3. आद्याचतुश्शती, जन्मभूमिः, मातृभूमिखण्ड:, पृ0 175
4. आद्याचतुश्शती, समुन्नत राष्ट्रस्य लक्षणम्, राष्ट्र खण्ड:, पृ0 63

5. आद्याचतुश्शती, भारत गौरवम्, जन्मभूमिः, राष्ट्र खण्डः, पृ0 63
6. आद्याचतुश्शती, राष्ट्रस्य बलवत्ता, राष्ट्र खण्डः, पृ0 65
7. आद्याचतुश्शती, अर्थस्यशौचमुपयोगित्वं च, सदाचार खण्डः, पृ0 151
8. आद्याचतुश्शती, अर्थस्यशौचमुपयोगित्वं च, सदाचार खण्डः, पृ0 151
9. आद्याचतुश्शती, राष्ट्रनिर्माणोपायाः, राष्ट्र खण्डः, पृ0 73
10. आद्याचतुश्शती, राष्ट्रनिर्माणोपायाः, राष्ट्र खण्डः, पृ0 71
11. आद्याचतुश्शती, राष्ट्रनिर्माणोपायाः, राष्ट्र खण्डः, पृ0 72
12. आद्याचतुश्शती, प्रेमैव खलु सारम्, प्रेमखण्डः, पृ0 181
13. आद्याचतुश्शती, प्रेम्णैव मुक्तिः, प्रेमखण्डः, पृ0 190
14. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धतिः, सच्छिक्षाखण्डः, पृ0 111
15. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धतिः, सच्छिक्षाखण्डः, पृ0 113
16. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धतिः, सच्छिक्षाखण्डः, पृ0 116
17. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धतिः, सच्छिक्षाखण्डः, पृ0 117
18. आद्याचतुश्शती, कालस्य महत्त्वम्, कालखण्डः, पृ0 125
19. आद्याचतुश्शती, कालस्य महिमा, कालखण्डः, पृ0 125
20. आद्याचतुश्शती, नैवकालः प्रतीक्षते, कालखण्डः, पृ0 131
21. आद्याचतुश्शती, नैवकालः प्रतीक्षते, कालखण्डः, पृ0 125
22. आद्याचतुश्शती, राष्ट्र भूम्यै नमः, राष्ट्र खण्डः, पृ0 57

द्वितीय-खण्ड

आध्यात्मिक चेतना

आधुनिक संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिक चेतना

(सेण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा में 'आधुनिक संस्कृत साहित्य' पर राष्ट्रिय सेमिनार)

वैज्ञानिक विकास और प्रौद्योगिक प्रगति के युग में भौतिक सुख साधनों का वर्चस्व एवं विकृत मानसिकता का प्रभाव प्रतिपल दिखाई पड़ रहा है। आज के मनुष्य पर भौतिकता इतनी अधिक हावी हो गयी है कि मनुष्य अपनी अंत: शक्ति एवं अंत: चेतना से विमुख हो गया है, वहशीपन एवं बर्बरता उसे आक्रान्त करती जा रही है। भौतिक सुख संप्राति हेतु हर मनुष्य अनर्थकारी तरीके अपनाने से भी चूक नहीं रहा। सतत नैतिक पतन से समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा है और मानव अस्तित्व खतरे में पड़ता जा रहा है। अधिकाधिक भूखण्ड का स्वामी बनने की लालसा, अथाह सम्पत्ति रखने का हब्शीपन एवं जातीय उन्माद मनुष्य को मनुष्य के रक्त का प्यासा बना रहे हैं। वस्तुत: अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर मनुष्य विषाद ग्रस्त होता है साथ ही क्रोधाविष्ट हो जाता है जिससे उसकी विवेक शक्ति एवं स्मरण शक्ति दोनों ही नष्ट हो जाती है और वह शीघ्र मनोविकृति का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या केवल भौतिकवादी बनकर मनुष्य अपना तथा अपने समाज का कल्याण कर सकता है या अध्यात्म चेतना जाग्रत रखते हुये जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर है।

अध्यात्म से तात्पर्य है आत्म विषयक ज्ञान एवं चिन्तन। अध्यात्म ज्ञान के प्रवर्तक ग्रन्थों में मनुष्य के अन्दर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा ये चार तत्व स्वीकार किये गये हैं। इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि एवं बुद्धि से परे आत्मतत्त्व है। इन्द्रियाँ सदैव अपने विषयों की ओर आकर्षित होती हुई बाह्यभिमुखी रहती हैं। इन्द्रियों के पीछे मन संयुक्त होता है, मन के पीछे बुद्धि। आत्मतत्त्व के प्रति किसी विरले को ही जिज्ञासा होती है। कुछ लोगों का यह कथन कि वे आत्मा परमात्मा को स्वीकार नहीं करते। अतएव उनके लिए अध्यात्म चेतना का कोई अर्थ नहीं। यह धारणा सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सत्ता को, अपने अस्तित्व को अवश्य ही स्वीकार करता है। अपनी सत्ता को स्वीकारना ही अध्यात्म है। इन्द्रिय विषयों को महत्व देने वाले व्यक्ति अध्यात्म से विमुख होकर ही रहते हैं। उन्हें इस बात का आभास नहीं होता कि अध्यात्म चेतना ही जीवन

मूल्यों को संरक्षित करती है और जीवन मूल्यों का संरक्षण पाशविक प्रवृत्तियों का शमन करता है। अध्यात्म चेतना को जाग्रत रखने का दायित्व आज संस्कृत साहित्यकारों के लिए एक बड़ी चुनौती हैं। वर्तमान संस्कृत वाङ्मय इस दिशा में क्या योगदान दे रहा है? ये समाज को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं, किस प्रकार अपने दायित्व निर्वाह कर रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर मैंने विगत दस वर्षों की 'अर्वाचीन संस्कृतम्' पत्रिका के आधार पर खोजने का प्रयास किया है।

उक्त तथ्यों पर विचार करने के पूर्व मैं अध्यात्म विषयक प्रचलित वर्तमान भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास करना चाहती हूँ।

(1) 'अध्यात्म' किसी दूसरी दुनिया की वस्तु नहीं है, उसका प्रारम्भ भौतिक जगत से ही होता है।

(2) 'अध्यात्म' का अर्थ संसार से पलायन या अपने दायित्वों से पलायन नही है।

(3) 'अध्यात्म' के लिए वृद्धावस्था की प्रतीक्षा अपेक्षित नहीं, यह बाल्यावस्था से ही संस्कारित होना चाहिए।

(4) वर्तमान समय में वैज्ञानिक शिक्षा के साथ आध्यात्मिक शिक्षा का सामंजस्य अति आवश्यक है। विज्ञान और अध्यात्म का संतुलन ही मानव विकास को सही दिशा दे सकता है। हम वैज्ञानिक विकास में दुनियाँ के साथ कदम मिलाकर चलें किन्तु अध्यात्म चेतना के सोमकलश के साथ। शुष्क हाथों का विज्ञान हमें कहीं का नहीं रखेगा। जीवन मूल्यों का बढ़ता हुआ ह्रास इस बात का द्योतक है कि हमारी अध्यात्म चेतना का स्रोत कहीं न कहीं शुष्क-प्राय होता जा रहा है। इस पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

(5) वैदिक संहिता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत् इत्यादि अध्यात्म वाङ्मय में ऋषियों से प्रसूत ज्ञान आज भी हमारे लिये उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि हजारों वर्ष पूर्व के मानव समाज के लिए थे।

पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्।
शरदः शतमदीनाः स्याम्, शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।[1]

'जीवेम् शरदः शतम्' की अवधारणा हमें यह विश्वास दिलाती है कि हमारा अध्यात्म ज्ञान हमें संसार की उपेक्षा करने की शिक्षा नहीं देता

बल्कि संसार को महत्त्व देना सिखाता है, इसके साथ देता है, जीने की सही दृष्टि-

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जजीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेद् शतं समाः।
एवं त्वाय नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे।।[2]

क्या किसी भी युग का किसी भी राष्ट्र का नागरिक जीवन की इस सही दृष्टि को नकार सकता है। कौन सा वैज्ञानिक इस शिक्षा को अनुचित कहेगा?

वैदिक काल से उक्त ज्ञान का जो स्रोत हमें आज तक प्राप्त हो रहा है, यही देशकाल से परे अध्यात्म चेतना का मूल बिन्दु है। जब तक यह स्रोत भारतीय जन मानस में विद्यमान रहेगा तब तक हम विश्व शान्ति एवं लोक कल्याण के लिए अपने को सक्षम पायेंगे। जिस दिन यह स्रोत लुप्त होगा उस दिन सम्पूर्ण मानवता संदिग्ध हो जायेगी।

अध्यात्म चिन्तन की धारा उपनिषदों तक ही विकसित हुई, उसके बाद अवरूद्ध हो गयी, यह धारणा भी भ्रान्ति मूलक है। उपनिषदों के बाद रामायण, महाभारत से प्रवाहित होता हुआ ये स्रोत विविध कथा ग्रन्थों, महाकाव्यों, नाटकों एवं भक्तिपूर्ण गीतों में अनुस्यूत होता हुआ आज भी विद्यमान है।

एक अन्य भ्रान्ति है अध्यात्म चिन्तन परलोक का पोषक है, वर्तमान जीवन की उपेक्षा करता है। जिस भारतीय चिन्तन में 'यतोऽभ्युदयानःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' कहा गया है, वह चिंतन इस जीवन की उपेक्षा कैसे कर सकता है। लोकाभ्युदय कारक पुरूषार्थ अर्थ एवं काम दोनों को धर्मानुकूल आचरित करने का निर्देश किया गया है। यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ वस्तुतः हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई धर्म की अभिव्यक्ति नहीं है। 'धर्म' से तात्पर्य है 'मानवता के संरक्षक मूल्य'। जिन गुणों से मानवता की रक्षा होती है, सृष्टि के समस्त कार्य अबाधित रूप से चलते हैं, वहीं धर्म है। 'धर्म' शब्द का अर्थ देश और काल की सीमा से परे है। यही अध्यात्म चेतना का सार है।

आज चारों ओर हिंसा का ताण्डव हो रहा है। मनुष्य ही मनुष्य का शिकार कर रहा है, फिर भी रक्त की प्यास शांत नहीं होती। इस पाशविकता का प्रशमन तथा नयी पीढ़ी का पाशविक प्रवृत्तियों से

बचाव, दोनों के लिए उपाय खोजने का कार्य प्रशासन के साथ ही प्रत्येक मनुष्य का है, साथ ही साहित्यकारों का है।

विश्वशान्ति और अंहिसा जैसे शब्दों का बार-बार उच्चारण करने मात्र से न तो शान्ति होगी और न हिंसा थमेगी। यदि आज के मनुष्य को मनुष्यत्व के माने मालुम होते तो संहारक अस्रों का निर्माण ही नहीं होता। वस्तुत: संहार और संहार के साधन दोनों की उत्पत्ति का स्थान है मनुष्य का मन एवं मस्तिष्क। चाहे जातीय उन्माद हो, आतंकवादी मनोवृत्ति हो, हत्या हो या आत्महत्या सबके पीछे विकृत मानसिकता को विकसित करना आज के लिए बड़ी चुनौती है। जहाँ विष पूरी तरह से फैल चुका है वहाँ उसके विध्वंस का उपाय और जहाँ तनिक भी अवकाश है वहाँ मनोवृत्ति को बदलने का अनथक प्रयास अपेक्षित है।

यदि आज का विद्यार्थी विज्ञान को सत्य मानता है तो उसे अध्यात्म के प्रति भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वीकारना चाहिए। जैसे विज्ञान में प्रयोग और परीक्षण के बाद ही तथ्यों को स्वीकार किया जाता है तो फिर मानवता के निर्धारक तत्व सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, करूणा इत्यादि के प्रति भी जीवन में सीधे प्रयोग एवं परीक्षण किये जाने चाहिये। 'हिंसा मत करो' ऐसा उपदेश दिया गया है। इसलिए इसे न स्वीकारें, किन्तु स्वयं से विवेक करें कि 'हिंसा' लाभकारी है या 'अंहिसा', तो परीक्षण से सिद्ध होगा कि हिंसा विध्वंसकारी है और अंहिसा शान्ति की सर्जना करने वाली अदम्य शक्ति। इसके लिए आवश्यक है 'दृढ़ अदम्य संकल्प।'. दृढ़ संकल्प शक्ति से अध्यात्म चेतना का जागरण संभावित है। आशय यह है कि हमारा वैज्ञानिक ज्ञान हमारी संवेदना का हिस्सा बने। संवेदना शून्य वैज्ञानिक सूझ-बूझ विश्व कल्याण के लिए कार्य नहीं कर सकती।

21वीं सदी में हम अध्यात्म चेतना को किस रूप में स्वीकार कर रहे हैं, यह किस रूप में आज संस्कृत साहित्य में विद्यमान है इसके कतिपय उदाहरण 'अर्वाचीन संस्कृतम्' में प्रकाशित आधुनिक रचनाओं के आधार पर दृष्टव्य है।

दस वर्ष पूर्व राजीवगांधी की हत्या से शोकाकुल मन: स्थिति में कवि के जो उद्गार प्रकट हुये थे उसमें 10 वर्षों के बाद भी कोई परिवर्तन संभव नहीं हो सका है। डॉ0 राजेन्द्र मिश्र जी द्वारा 'भारती परिवेदनम्' नामक 'शोकशतकम्' में भारत माँ की अंतर्व्यथा की अभिव्यक्ति (जु0 1991 में प्रकाशित)-

याऽहं बहुमता नित्यं विश्वबन्धुत्वकाङ्क्षिणी।
स्वीय वेश्मनि साचाहं बन्धुद्रोहैः खलीक्रिये।।
विश्वशांतिप्रयासेषु याऽहमासं महीयसी।
अशांता स्वयमद्याहं कलहैः कुटुम्बिनाम्।।
सिद्धसिंधु पवित्राम्भोऽमिषिक्ताहं समर्चने।
अद्य रक्ताभिषिक्तास्मि डाकिनीव महाशना।।[3]

आज की अध्यात्मविहीन वैज्ञानिक शिक्षा के प्रभाव को देखकर कवि प्रणव की अभिव्यक्ति-'साम्प्रतम्' नामक गीत में-

हा नव्यविज्ञानेनान्विता विश्वंगमा हिंसासुरी।
चण्डाट्टहास भयंकरी कृत्या समिद्धा साम्प्रतम्।।[4]

आज की मानवता किस ओर जा रही है, इसका शब्दांकन ''कैषा नैतिकता'' नामक गीत में कवि प्रणव के द्वारा इस प्रकार किया गया है।

दानवतायाः पक्षपातिनी, मानवतायाः नाशकारिणी सैषा भौतिकता।

लोकचेतनाया विमोहिनी, स्वार्थसाधने धर्मदोहनी, कैषा नैतिकता??

परजनमरणं मेऽस्तु जीवनं, मम गृहमरणं तेऽस्तुकाननं।
श्रवणवचनयोः सैव चातुरी, निजहितकरणी सैवगाधुरी।।
नश्वरेषु या रागकारिणी सर्वदैव या धैर्यहारिणी।
धन्या रोचकता, कैषा नैतिकता।।[5]

वर्ष 99 अक्टूबर में प्रकाशित 'अर्वाचीन संस्कृतम्' में 'योऽयंकृतस्शपथ-स्त्वया' में नेताओं की अतंश्चेतना को झकझोरने वाली ये पंक्तियाँ सामयिक संस्कृत की दशा एवं दिशा दोनों के प्रभाव को स्पष्ट कर रही हैं।

लोभेन भयतः कामतो वा यो निजं शपथं त्यजेत्,
शपथेन साकं स हि पुमान् निज जीवनं न हि किं त्यजेत्।
शपथस्य रक्षा ह्यात्मजयतो जायते, जानसि किम्,
योऽयं कृतस्यशपथस्त्वया तस्यार्थमपि जानासि किम्??
× × × × × × × × × × × × ×
सम्प्रति शपथरक्षार्थमात्मा पीडनीयो रे त्वया,
विस्मृत्य निज सौख्यं सखे! लोकः समाराध्यस्तवया।
ईशः शपथ काले त्वया साक्षी कृतो जानासिकिम्,
योऽयं कृतस्शपथस्तवया तस्यार्थमपि जानासि किम्??[6]

उक्त पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक संस्कृत वाङ्मय में कर्माकर्म के प्रति सावधान करते हुये कवि अपने दायित्व का निर्वाह कर रहे हैं।

जुलाई 2000 की 'अर्वाचीन संस्कृतम्' में प्रकाशित 'शुचिगांधीयम्' नामक ध्वनि रूपक में डॉ0 रमाकान्त शुक्ल ने 'दैवीसम्पद्' का वर्णन किया है। वस्तुत: कवि ने जीवन और जगत् के संधारक मानवीय गुणों को दैवी सम्पद् की संज्ञा दी है।

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमाः धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।[7]

इसी प्रसंग में कवि ने मोहनदास और संस्कृत शिक्षक के मध्य संवाद के माध्यम से अभय, सत्य, अहिंसा एवं शुचिता की बड़ी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। जिसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

भयस्याभावो अभयमिति कथ्यते। किं पुनर्भयम्?

'इष्ट वियोगस्य अनिष्टसंयोगस्याशंकया मनसि यो भीरूत्त्वपूर्ण विकारो भवति स एव भयमिति कथ्यते। यथा प्रतिष्ठानाशाद्भयम्, अपमानाद्भयम् निन्दाया भयम् रोगाद्भयम्, राजदण्डाद्भयम्। य एताद्दशेम्यो भयेम्यो मुक्तों भवति स हि द्वैव्या सम्पद् युक्तो भवति।'

सत्यस्य विषये-

इन्द्रियैस्तथान्तःकरणेन यथादृष्टं यथाश्रुतं यथाचानुभूतं परेषाभव-बोधनार्थ कपटं परिहृत्य यथा सम्भवं प्रियया हितया च वाण्या तस्योच्चारणं सत्यमित्यमिधीयते।

किमु वाण्योच्चारण मात्रमेव सत्यम्?

न तथा वस्तुतः 'सत्यम्' अहिंसाया एव रूपान्तरम्। वस्तुनो यथार्थज्ञानमेव सत्यम्। तस्य पालनं कायेन वाचा मनसा च भवति। अहिंसा नाम त्रिकालाबाधितं सत्यम्। यथार्थ रूपेण यथार्थज्ञानेन अहिंसार्थ यद्यपि क्रियते तत्सत्यं कथ्यते।

का नाम पुनर्हिंसा?

हिंसाया अभाव एवं अहिंसा। का पुनर्हिंसा? कस्यापि प्राणिनः कदापि कुत्रापि लोभात् मोहात् क्रोधाद्वा अधिकमात्रायां मध्यमात्रायां अल्पमात्रायां वा स्वतः पीडनम् अथवा परतः कष्टदापनम् उताहो परेण कृतस्य पीडनस्यानुमोदनं हिंसा कथ्यते। इत्थं कृतकारितानुमोदित हिंसायाः केनापि निमित्तेन मनसा, वाचा कायेन वा अकरणम् अहिंसा कथ्यते।

इसी क्रम में मनुष्य की अंत:पवित्रता का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

'आभ्यान्तरं शौचं तुं सत्त्वसंशुद्धिरेव ईर्ष्याभिमानघृणासूयादिमलानाम् मैत्रीकरूणदिना दूरीकरणम्, दुर्विचाराणां शुद्ध विचारैरपसारणं, दुर्व्यवहारस्य शुद्धव्यवहारेण अपसारणं मानसिकं शौचं कथ्यते।'[8]

उक्त पंक्तियाँ आज के संस्कृत साहित्यकारों की अध्यात्म चेतना को प्रकट करती है। चारों ओर से त्रस्त होकर त्राण मिलता है प्रभु की शरणागति में। भक्तिमय मनोभावों की निर्मल अभिव्यक्ति संस्कृत कवियों की रचनाओं में निरंतर प्रवाहित है। इसकी लम्बी सूची बन सकती है। कुछ विशिष्ट रचनाओं का उल्लेख विगत दस वर्षों के प्रकाशन के अनुसार इस प्रकार से है-

श्री सुन्दरराज की शरणागति षोडशी, हनुमत्पञ्चाशत एवं श्री जगन्नाथस्तोत्रम्, श्री हृदयनाथ मिश्र की 'सूर्यस्तुति', श्री कृष्ण सेमवाल की 'कात्यायनी स्तव:', डॉ0 आचार्य रामकिशोर मिश्र का 'श्रीवृषभध्वजसपाद-शतकद्वयी', डॉ0 रमाकान्त शुक्ल का 'धन्वन्तरि तमीडे', 'ब्रूहि जगन्नाथ स्वामिन्', श्री सत्यव्रत शास्त्री का 'वृतपत्रम्', इच्छाराम द्विवेदी का 'समुज्जवला', श्री निवास राघवाचार्य का 'पुरूषोत्तम षोडशी' इत्यादि तथा अनेक भावों को सरस अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली अनेकानेक कवियों के मुक्त छंद भक्ति रस से ओत-प्रोत हैं एवं प्रकाशित हैं जो आज की अध्यात्म चेतना को पुष्ट करते हैं। भक्ति काव्य में इष्ट देव का स्मरण, शरणागति, रूप माधुरी के वर्णन के साथ ही मानवता के कल्याण की कामना एवं दुष्टों के विनाश की पुकार भी की गयी है। 'कात्यायनी स्तवं' में कवि श्रीकृष्ण सेमवाल की भावाभिव्यक्ति द्रष्टव्य है-

असारे संसारे भ्रमवशजड़ीभूत मनुजः,
न जाने मातः किं किमशिवमसौ संप्रकुरूते।

तथापि त्वं याचे हिमगिरि सुते मामपि कृपां,
स्वपुत्रं मत्वा त्वं कुरू जननि कात्यायनि मुदा।।
अतो दुष्टानां त्वं रिपुदलबलानांच दलने।
स्ववक्रां दृष्टिं त्वं जननी कात्यायनि मुदा।।[9]

प्रश्न उठता है कि संस्कृत भाषा-भाषी कितने लोग हैं, ये आवाज कहाँ तक पहुँच पाती है? इस प्रश्न के उत्तर में ये कहा जा सकता है कि संस्कृत के प्रेमी विद्वान भाषान्तर द्वारा इन भावों को अन्य भाषाओं में सम्प्रेषित कर सकते हैं, तथा अन्य भाषाओं के साहित्यकार इस विषय को लेकर कितने सचेष्ट हैं, उसे अपनी भाषा में स्थान दे सकते हैं। इस प्रकार साहित्य के माध्यम से, संस्कृत वाङ्मय में निहित आध्यात्मिकता के प्रभाव से समाज में चढ़े भौतिक उन्माद को कम अवश्य किया जा सकता है। मनुष्य के अंदर निहित अपने पराये की भावना जो पृथकतावादी भाव का मूल है-उसे हटाने के लिए अध्यात्म चिंतन की ओर आज की पीढ़ी को उन्मुख करना अत्यंत आवश्यक है। दूरदर्शन के माध्यम से धारावाहिक, नाटक, कथा एवं काव्यों को फिल्म के रूप में प्रदर्शित करके सरलता पूर्वक जन समुदाय तक सत् विचारों को सम्प्रेषित किया जा सकता है। विज्ञान के सभी पाठ्यक्रमों में प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक आध्यात्मिक शिक्षा को भी सम्मिलित किया जाय, जिससे भविष्य में स्वस्थ एवं मंगलमय वातावरण प्राप्त हो सके।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

सन्दर्भ

1. यजुर्वेद 3, 6।24
2. ईशावास्योपनिषद् 2
3. अर्वाचीन संस्कृतम् (जुलाई 1991), पृ0 13, 14
4. गीतमन्दाकिनी-इच्छाराम द्विवेदी
5. गीतमन्दाकिनी-इच्छाराम द्विवेदी
6. भारतजनताहम्, पृ0 123, 124
7. वही, जुलाई 2000, पृ0 24
8. वही, अक्टूबर 2000, पृ0 26
9. संस्कृत मञ्जरी

'आद्याचतुश्शती' में वर्णित मानव-मूल्य

लोक कल्याण परक नीतियों, नियमों एवं मान्यताओं को मानवमूल्यों की संज्ञा दी गयी है। मानवता के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु इन मूल्यों की महती आवश्यकता है। जिन गुणों के पालन से मनुष्य समाज में समादृत होता है, जिन गुणों को धारण करने से किसी प्राणी का अहित नहीं होता। सकल लोकोपकारक वे गुण ही 'मानव मूल्य' कहलाते हैं। ये गुण देश, काल एवं व्यक्ति की सीमा से परे होने के कारण 'शाश्वत्' होते हैं। हमारी संस्कृति शाश्वत मूल्यों वाली होने से ही असंख्य वर्षों से अस्तित्व में है। सत्य, प्रेम, अंहिसा, दया, क्षमा, धैर्य, पावित्र्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का पालन करने से मानव जीवन संरक्षित होता है तथा सम्पूर्ण सृष्टि संरक्षित होती है। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का आजीवन अध्ययन, अध्यापन एवं चिन्तन करने वाले आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग एवं पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मनीषी मूर्धन्य कवि आद्याप्रसाद मिश्र जी ने अपनी रचना 'आद्याचतुश्शती' के सन्नीति खण्ड, सदाचार खण्ड, सच्छिक्षा खण्ड, सत्पुरूष खण्ड, प्रेम खण्ड एवं काल खण्ड में मानव मूल्य परक विचारों को बहुशः मुखरित किया है तथा अपनी वाणी को शब्द-बद्ध करते हुये भावी पीढ़ी को सशक्त बनाने का प्रयास किया है। विश्व की बड़ी से बड़ी शक्तियाँ शत्रुता का व्यवहार करके भी भारतीय संस्कृति को नष्ट नहीं कर सकीं। इसका कारण है भारत में शाश्वत मूल्यों का गतिमान होना। कवि ने बड़े ही स्पष्ट स्वरों में घोषणा की है।

बभूवुः शत्रवोऽस्माकं शताब्दीर्विश्वशक्तयः।
तथाप्यस्तित्वमस्माकं नैव नष्टं कदाचन।।
सन्नीतिपोषिका नित्यं विश्वकल्याण कारिणी।
उपेता शाश्वतैर्मूल्यैः संस्कृतिस्तत्र कारणम्।।
तस्माच्छाश्वतमूल्यायाः संस्कृतेः शिक्षणं परम्।
उपादेयं हि विश्वस्य नेतृत्वं तेन प्राप्स्यते।।[1]

आज के समय में चारों ओर घोर स्वार्थपरता बढ़ी हुई है। भौतिकवादी विज्ञान परक संस्कृति हावी हो रही है। धनसंचय, वस्तु संचय, संपत्ति संचय की प्रवृत्ति अधिक से अधिक बढ़ रही है। हिंसात्मक वृत्ति ने संवेदना का ह्रास कर दिया है। आतंकवाद विविध

रूपों में सर्वत्र फैला हुआ है। नैराश्यवाद एवं नकारात्मक सोच बढ़ जाने से आत्महत्या की प्रवृत्ति पनप रही है। ऐसी स्थिति में संस्कृत रचनाकार विशेषतः मानवमूल्यों के अपरिमित कोष, संस्कृत के कवि का दायित्व बनता है कि वह मानवता के संरक्षक मानव मूल्यों पर अपनी लेखनी चलाये तथा समाज का ध्यान सद्गुणों एवं सन्मूल्यों की ओर आकृष्ट करे तथा उन मूल्यों को आचरण बद्ध करने के लिए समाज को प्रेरित करे। आचार्य श्री कवि ने अपनी कवित्व प्रतिभा के माध्यम से इस दायित्व का निर्वाह कितनी सफलता पूर्वक किया है। इसकी चर्चा ही इस शोधपत्र का विषय है।

मनुष्य को अकर्मण्य बनाने वाला सबसे बड़ा शत्रु है 'आलस्य'। यह प्रगति का बाधक है, विकास का अवरोधक है। अतएव कवि ने 'आद्याचतुश्शती' के अंतर्गत 'उद्बोधनम्' में कार्य करने की सतत् प्रेरणा ओजस्वी स्वरों में दी हैं-

पथिक! निरन्तर चलनमभीष्टं, गन्तव्यं प्रति सततं चलनम्।
नित्यं सततं चलनं धर्मः, नैव विरामोऽभीष्टः कथमपि।।
× × × × × × × × × × × × × ×
साफल्यस्याशाविश्वासः पलाययेत् नैराश्यं सर्वं।
यथा रविर्निविडं सन्तमसम्।।[2]

अपने कार्य के प्रति सजग रहना, उचित समय पर कार्य करना, यह सद्गुण भी मनुष्य के लिए अनिवार्यतः उन्नति कारक है।

श्वः कार्यमद्यैव विधेयमस्ति।
श्वो नैव केनापि यतो हि दृष्टम्।।
प्राणः प्रयातो यदि पूर्वमेव।
कार्यं विधीयेत विलम्बितं नो??[3]

जीवन में आने वाली विषम परिस्थितियों एवं बाधाओं में भी अपने लक्ष्य से विचलित न होकर दृढ़ निश्चयी व्यक्ति अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेता है। लक्ष्य सिद्धि होने पर उसे जो आनंद की प्राप्ति होती है, वह उसके उत्साह को और अधिक बढ़ा देती है। विविध कठिनाइयों के आने पर भी उनसे त्रस्त होकर अपने लक्ष्य से विचलित न होना ही लक्ष्य प्राप्त करने का सरल उपाय है। मनुष्य को आजीवन उद्योगशील अर्थात् कर्मशील रहना चाहिए। बुद्धि का विकास एवं परिश्रम शक्ति का विकास समयानुसार ही होता है। समय से पूर्व फल

मिलने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि समय आने पर ही फल प्राप्ति होती है। अतएव समय से पूर्व फल प्राप्ति के लिए दुःखी होना उचित नहीं। उससे तो कार्य करने का उत्साह कम होता है जिससे उसकी सिद्धि में रूकावट आती है। कवि के शब्दों में सत्प्रेरणापरक उक्तियाँ विचारणीय हैं-

कालक्रमेणैव द्वयोर्विकासो, जानातिलोकोऽखिल एव तथ्यम्।
कालाच्च पूर्वंक्रियमाणाकाङ्क्षा, सिद्धिंनचाप्नोति ददाति दुःखम्।।[4]

किसी भी कार्य की सम्पूर्ति में तप, पौरूष, धैर्य, दृढ़ निश्चय तथा उचित अवसर की समझ कार्य सिद्धि में सहायक होते हैं।

कालखण्ड में कवि ने यही संकेत किया है-

दत्तावधानश्च भवेदवश्यं,
न कालवेत्ता हि भवत्युपेक्ष्यः।
एवं स्थिते सर्व विधाः स्वकीयाः,
क्रियाश्च कुर्यादनुकूलकाले।।[5]

सफलता पाने वाला व्यक्ति स्वस्थ मन वाला होता है। उसके अंदर दुष्प्रवृत्तियाँ हावी नहीं होतीं। वह दूसरों को हानि पहुँचाने वाली दुर्भावनाओं से ग्रस्त नहीं होता। वह समाज के लिए घातक नहीं होता। अतएव अपने कार्य को निष्ठा पूर्वक करना एक महान एवं उपयोगी गुण है। कवि के अनुसार-

कृतेऽपि यत्ने यदि नैव सिद्धा,
पूर्वं समृद्धिर्न भवेन्निराशः।
नात्माऽवमन्येत कृते हि तस्य,
आमृत्यु यत्नः करणीय एव।।[6]

सन्मार्ग का अवलम्बन करने वाले व्यक्ति धैर्य पूर्वक समय की प्रतीक्षा करते हैं। कवि ने धैर्य धारण करने वाले प्राचीन महापुरूषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। धैर्य खोने वाले राजाओं ने यथा-नहुष एवं दुर्योधन ने नारकीय जीवन प्राप्त किया तथा इन्द्र एवं युधिष्ठिर ने धैर्य धारण कर अपने खोये हुये राज्य को पुनः प्राप्त किया है-

धैर्यावलम्बिनामेव सन्मार्गस्यानुसारिणाम्।
अवश्यम्भाविनी सिद्धिः संशयावसरः कुतः??[7]

कार्य की सिद्धि में पूर्व में तथा कार्य के प्रारम्भ में सर्वाधिक बाधक

तत्व हैं संशय। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि 'संशयात्मा विनश्यति' अतएव व्यक्ति को संदिग्ध चित्त वाला नहीं होना चाहिए। संशय की उत्पत्ति में प्रायः दुर्जनों की संगति सहायक होती है। अतः दुष्टों की संगति सर्वथा त्याज्य है। अपने चित्त में संशयात्मक विचारों का उदय होने पर युक्तिपूर्वक, शास्त्रों के अध्ययन से, उसमें प्राप्त उदाहरणों से तथा सद्गुरू के सदुपदेश से संशय को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रसंग में कवि के विचारों को ग्रहण करना परम कर्तव्य है।

संशयग्रस्त चित्तास्तु कर्महीना यतो नराः।
अतस्तेषां विनाशोऽपिध्रुव इत्याह मापतिः।।
× × × × × × × × × × ×
अपि चासाधुमिर्जनैर्योगः सर्वघैव परिहरणीयः।
असाधुयोगः सिद्धेर्दर्यन्तरायोऽस्त्यापदां पदम्।।[8]

अर्थात् 'दुष्टों का प्रसंग' कार्य सिद्धि में महान विघ्नकारी होता है। अतः दुष्टों के साथ व्यवहार कैसा होना चाहिए? न मित्रता, न शत्रुता। कवि ने कार्य सिद्धि चाहने वाले मनुष्यों को यह संङ्केत किया है-

न सख्यं नापि वैरं वा सार्धं कार्यमसाधुभिः।
दिनानुदिनमप्येते सर्वथा दुःखदातृणी।।[9]

दुष्ट व्यक्ति यदि विनम्र भी बने, तो भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि उसकी वह विनम्रता वास्तविक नहीं। स्वार्थसिद्ध होने पर वह विनम्रता छोड़ अपने विरोधी आचरण से दुःखी करना प्रारम्भ कर देता है।

दुश्शील नीच पुरूषस्य नतिर्न सत्या,
सापि प्रदर्शन कृते क्रियतेऽर्थ सिद्धध्यै।
स्वार्थे गते पुनरसौ रसहीन वृत्तो,
दुःखाकरोत्यतितरां खलु शीलवन्तम्।।[10]

'विनम्रता' मनुष्य का श्रेष्ठ गुण है। वह बड़े से बड़े कार्य में सहायक होता है। 'अहंकार' मनुष्य का विनाश करने वाला विकार है। 'विनय' मनुष्य को सम्मानित कराने वाला एवं उन्नति कारक भाव है। कवि की एतद्विषयक उक्ति अवधेय है।

दर्पेण सत्यं महती विनष्टिः, विनीत भावेन च तस्यरक्षा।[11]

आज 'भ्रष्टाचार' सर्वत्र व्याप्त है, ऑफिस हो या विद्यालय, ग्राम

हो या महानगर, 'देवालय' हो या औषधालय। सर्वत्र इसके विविध रूप देखे जा सकते हैं। आबाल वृद्ध सभी इससे त्रस्त हैं। इसे दूर करने का कोई उपाय कारगर नहीं है। कवि ने भ्रष्टाचार के प्रति भी अपने विचार व्यक्त किये हैं-

भ्रष्टाचारक्लिष्टाः शान्ता जाता हि विद्वांसः।[12]

'भ्रष्टाचरण' का मूल कारण है 'तृष्णा'। तृष्णा शांत न होने पर उसकी पूर्ति के लिए ही मनुष्य का आचरण पतित होता है, वह भ्रष्ट आचरण करता है। तृष्णा ही सारी बुराईयों का मूल है। तृष्णा की जितनी ही पूर्ति की जाती है, उतना ही वह बढ़ती जाती है।

सतु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा न शान्ता।
मनसि च परितुष्टे नोऽर्थवान् नो दरिद्रः।।[13]

सर्वाधिक भ्रष्टाचारिता धन संपत्ति को लेकर है। 'अर्थ की शुचिता' सर्वाधिक ग्राह्य गुण है। इसे अपनाने से ही भ्रष्टाचारिता धीरे-धीरे दूर हो सकेगी।

सोऽर्थस्त्याज्योज्ञेयो यत्संग्रहे प्राणिवधोऽनिवार्यः।
उताहो क्लेशोऽन्यस्य परित्यागो व स्वधर्मस्य।।[14]

अहिंसा, सत्य, सेवा, विनम्रता, दया, क्षमा इत्यादि शाश्वत मानव मूल्य हैं, इनसे ही मानव जीवन की सार्थकता है। मनीषी कवि के शब्दों में मानव मूल्यों की सार्थकता इस प्रकार वर्णित है-

मानवमूल्य प्राप्त्या जीवनं भवेद्धि सार्थकं परमम्।
सफलं स्यादिति चिन्ता परित्याज्या शान्तिप्राप्तये।।
शाश्वतमूल्योपेतं जीवनं स्यादिति सर्वथा यतेत्।
तत्करणे साफल्यं यल्लभेत ततः सन्तुष्येत्।।[15]

कवि के अनुसार जिसके हृदय में दया और धर्म है, जो विनयशील हैं, जिनकी वाणी सुख प्रदान करने वाली है, वे ही उत्तम पुरूष हैं।

हृदि येषां दया धर्मो, वाचो येषां सुधामुचः।
सूत्तमा पुरूषास्ते वै नेत्रे येषां सदा न ते।।
वीतावलेपो मृद्वीं वाचमुच्चारयन्नरः।
सर्वथा ह्लादयत्यिन्यान् स्वयं च सुखमश्नुते।।[16]

आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग है। उपभोक्ता वादी विज्ञापन प्रिय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो रहा है। भौतिक पदार्थों के संचयन की

इतनी होड़ लगी है कि मनुष्य का मन निर्मल नहीं रह गया है। किसी न किसी से हीनता की भावना पनपती रहती है, जिससे ईर्ष्या एवं द्वेष जैसे विकार मनुष्य के अन्तर्मन को सदैव मलिन करते रहते हैं। ईर्ष्या मनुष्य को निरंतर पतित बनाती हुयी उसे विनाश के कगार पर पहुँचा देती है। ईर्ष्यालु अपनी सन्तापकारिणी ईर्ष्या से सतत सन्तप्त रहता हुआ कर्तव्य के प्रति उदासीन हो जाता है। इस कारण उसकी अधोगति अनिवार्य है। उसका विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। कवि ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से कष्ट करी ईर्ष्या का वर्णन किया है।

ईर्ष्यया दाहकारिण्या नित्यं सन्तप्यते नरः।
तेन कर्मण्यनुत्साहः सततं यात्यधोगतिम्।।[17]

ईर्ष्या से अतिरिक्त एक अन्य दोष और भी है-'कार्पण्यता' एवं अनुदारता। जो मनुष्य के पतन का कारण है। इससे सम्बद्ध है-'अराति' अर्थात् दानशीलता या उदारता का अभाव। सौ हाथों से धन का सञ्चय कर उसे हजार हाथों से बाँटने का स्वभाव बनाना चाहिए। कवि ने शास्त्र समर्थित एतद्विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किया है-

अरातिस्तु महाशत्रुर्नरस्यात्र न संशयः।
यतः सा दुःखजननी सर्वशर्मविनाशिनी।।[18]

दूसरों के दुःख-सुख को समझना एवं उस अनुभूति में सहभागिता करना मनुष्य का उत्तम गुण है। 'संवेदनशील' व्यक्ति सभी प्राणियों के लिए कल्याणकारी होता है। आचार्य श्री के शब्दों में संवेदना से ही मनुष्यता की पहचान होती है।

संवेदनां परार्थामुत्तमगुणं विजानीयान्नरस्य।
मानुष्यकं हि तयैव सुष्ठु परिज्ञायते सर्वैः।।[19]

मनुष्य के अंदर सद्गुणों की प्रतिष्ठा का प्रयास करते हुये अंततः मनुष्य की सम्पूर्णता किन गुणों में है? इसका सम्यक् रूप प्रदर्शित करते हुये आचार्य ने सच्चे अर्थों में मनुष्य का चित्रण इस प्रकार किया है।

वाणी मृद्वी च माध्वी प्रिय सरससुधासारकर्त्री च दृष्टिः।
आचारः शिष्टमिष्टो प्रियमधुर मनोभावपूर्णा च बुद्धिः।।
स्निग्धा संवेदना स्यादखिलजनकृतेयस्यनैसर्गिकी च।
तादृग्यास्यास्ति मूर्तिजनितजनसुखाऽसौ पुमान् सार्थजन्मा।।[20]

अर्थात् जिसकी वाणी सुकुमार और मधुर है, जिसकी दृष्टि प्रिय,

स्निग्ध एवं अमृत की वर्षा करने वाली है, जिसका आचरण शिष्ट एवं सुखद है, जिसकी बुद्धि प्रिय एवं मधुर मनोभावों से पूर्ण है, जिसकी स्नेहपूर्ण संवेदना स्वभावतः प्राणीमात्र के प्रति रहती है, सभी को सुख देने वाला जिसका स्वरूप है, उसी का जन्म लेना सार्थक है।

उक्त सभी गुणों में स्थैर्य तभी हो सकता है, जब आपस में मनुष्य मात्र में प्रेम की भावना हो क्योंकि प्रेम से मिलकर बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है।

शुद्धं परप्रेम हि लोक मध्ये।
परस्परं विद्यत एव यावत्।।
तावन्न काचिद्ध्युदियात् समस्या।
उदेति चेत्तर्हि समाहिता स्यात्।।[21]

प्रेम, दया, धैर्य, विनम्रता, कर्मठता, उत्साह, सम्पन्नता, आशावादिता, संशय हीनता, प्रमादहीनता इत्यादि ऐसे गुण हैं, जिनके विकास से ही सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने में मनुष्य सक्षम हो सकता है। प्राचीन काल से ही ऋषियों, मुनियों ने, साहित्यकारों, महाकवियों एवं शास्त्रज्ञों ने सन्नीति से युक्त, सदाचार से मंडित सद्गुणों की व्याख्या की है तथा इन्हें अपनाये जाने पर बल दिया है। आज भौतिकतावादी प्रवृत्ति के बढ़ने से मानवमूल्यों का निरंतर ह्रास होता दिखाई दे रहा है। यदि समाज के सदस्य उक्त गुणों की अवहेलना में ही तत्पर रहेंगे तो समाज की समस्त व्यवस्थायें अर्थहीन हो जायेगी। अतएव आजीवन संस्कृत और दर्शन का अध्ययन-अध्यापन करने वाले ऋषिकल्प जीवन व्यतीत करने वाले आचार्य श्री मिश्र जी ने आज की आवश्यकताओं को समझते हुये, भावी पीढ़ी को इन गुणों से अवगत कराने के लिए ही इस विषय पर अपनी लेखनी चलायी है तथा वाणी को मुखरित किया है। वर्तमान युवा पीढ़ी को भविष्य में समस्याओं से जूझने में मानव मूल्य ही सहायक सिद्ध होंगे। ऐसा विश्वास कवि ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रकट किया है। मानवमूल्यों को धारण करने वाला व्यक्ति चाहे किसी देश या काल में हो, सर्वत्र अपने कार्यों में सिद्धि प्राप्त करता हुआ सम्मान्य होता है। वह अपने कर्मों से किसी का अहित नहीं करता क्योंकि उसके अन्दर लोकोपकारक वृत्ति होती है। सभी प्राणियों में उसे एक ही तत्व के दर्शन होते हैं। उसमें भेदपरक बुद्धि का लोप हो जाता है। उसकी बुद्धि सर्वलोकहितैषिणी हो जाती है। आज ऐसे संस्कार युक्त समाज की सर्वत्र अपेक्षा है।

सन्दर्भ

1. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धति, सच्छिक्षा खण्ड, पृ0 118
2. आद्याचतुश्शती, उद्बोधनम्, सन्नीति खण्ड, पृ0 77
3. आद्याचतुश्शती, नैवकालः प्रतीक्षते, काल खण्ड, पृ0 132
4. आद्याचतुश्शती, महत्त्वाकाङ्क्षा, सन्नीति खण्ड, पृ0 83
5. आद्याचतुश्शती, कालज्ञस्यमहिमा, काल खण्ड, पृ0 129
6. आद्याचतुश्शती, तपो हि दुरतिक्रमण्, सन्नीति खण्ड, पृ0 85
7. आद्याचतुश्शती, धैर्यम्, सन्नीति खण्ड, पृ0 89
8. आद्याचतुश्शती, दृढ़ निश्चयः, सन्नीति खण्ड, पृ0 91, 92
9. आद्याचतुश्शती, नितयः, सन्नीति खण्ड, पृ0 94
10. आद्याचतुश्शती, दुर्जनस्यनतिर्दुःखदा, सन्नीति खण्ड, पृ0 95
11. आद्याचतुश्शती, विनीतः स्यान्नगर्वितः, सन्नीति खण्ड, पृ0 99
12. आद्याचतुश्शती, विनीतः स्यान्नगर्वितः, सन्नीति खण्ड, पृ0 100
13. आद्याचतुश्शती, विनीतः स्यान्नगर्वितः, सन्नीति खण्ड, पृ0 102
14. आद्याचतुश्शती, अर्थस्य शौचम्, सदाचार खण्ड, पृ0 151
15. आद्याचतुश्शती, मानवजीवनस्य सार्थकता, सदाचार खण्ड, पृ0 150
16. आद्याचतुश्शती, विनय, सदाचार खण्ड, पृ0 157
17. आद्याचतुश्शती, ईर्ष्या कष्टकरी, सदाचार खण्ड, पृ0 143
18. आद्याचतुश्शती, कार्पण्यं हि महादोषाः, सदाचार खण्ड, पृ0 141
19. आद्याचतुश्शती, साध्वी शिक्षा पद्धति, सच्छिक्षा खण्ड, पृ0 114
20. आद्याचतुश्शती, सत्पुरूष लक्षणम्, सत्पुरूष खण्ड, पृ0 166
21. आद्याचतुश्शती, प्रमैव खलुसारम्, प्रेम खण्ड, पृ0 181

आधुनिक सन्दर्भ एवं मनुस्मृति

आज का मानव विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उन्नति की ओर बढ़ते हुये भौतिक सुख सुविधाओं से अधिकाधिक समृद्ध होता जा रहा है। समय, स्थान, प्रकृति और परिवेश पर मनुष्य का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है किन्तु इसके साथ ही मनुष्य-मनुष्य के बीच कुछ ऐसी समस्यायें बढ़ती जा रही हैं, जिनका समाधान विज्ञान द्वारा संभव नहीं। मानवीय मूल्यों का ह्रास आज जितनी तीव्रगति से हो रहा है वह मानव के लिए चिन्ता का विषय है। मनुष्य अपने आपसे संवेदन शून्य होता जा रहा है, उसके अन्दर पनप रही है, तो अधिक से अधिक भौतिक सुख साधनों के संग्रह की दुष्प्रतिस्पर्धा। इसके लिए वह निम्न से निम्न तरीकों को अपनाने से भी नहीं चूकता। मूल्यों के ह्रास के पीछे प्रमुख कारण है हिंसा, नारी का अपमान एवं जातीय विद्वेष। ये तीन विकृतियाँ मनुष्य को अधः पतन की ओर ले जा रही है। इन समस्याओं को दूर करने के लिए हमारी संस्कृति के मूल स्रोत धर्मशास्त्र की ओर भी पुनः ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। उक्त समस्याओं के सन्दर्भ में मैंने 'मनुस्मृति' के मन्तव्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास इस शोध प्रपत्र के माध्यम से किया है। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति सर्वाधिक प्राचीन आर्ष ग्रन्थ है। इसमें मानव समाज के लिए सांसारिक श्रेष्ठ कर्तव्यों का विधान है, साथ ही आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण भी है। शतपथ, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में मनु का उल्लेख होना 'मनुर्वे यत्किञ्चावदत् तद्भैषजम्' अर्थात् मनु का कथन औषधि के समान गुणकारी एवं कल्याणकारी है। मनु मानव समाज की मर्यादाओं एवं व्यवस्थाओं के सर्वप्रथम उपदेष्टा थे। एक मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में इसमें सभी मनुष्यों के लिए परिवार, समाज, वर्ण, आश्रम, धर्म, राजनीति, कर्तव्य, अकर्तव्य, अधिकार, अनधिकार आदि से सम्बन्धित आदर्शों को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसे प्राचीन भारत का विधिविधानात्मक शास्त्र माना गया है एवं श्रेष्ठ समाज व्यवस्था के लिए सभी प्रकार के विधानों का निर्धारण किया गया है। मनुस्मृति में मनु ने वेदों को परम प्रमाण स्वरूप मानते हुये कहा है-

"धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।"[1]

निरपेक्ष दृष्टि से यह कहना अनुचित नहीं है कि मनु की व्यवस्थायें सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं, सत्य एवं व्यवहारिक हैं।

महर्षि यास्क, बाल्मीकि, व्यास के अतिरिक्त गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि ने मनु के उपदेशों का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने बज्रकोपनिषद् में अपने पक्ष के समर्थन हेतु, याज्ञवल्कयस्मृति में याज्ञवल्क्य ने तथा अन्य कवियों ने मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है। आचार्य शंकर ने वेदान्तसूत्रभाष्य में, शबरस्वामी ने जैमिनीय सूत्रों के भाष्य में मनु के वचनों का उल्लेख किया है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मनुस्मृति को आधार बनाया हैं। 18वीं शती में महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति को आर्ष प्रामाणिक धर्मशास्त्र माना है। आज भी हिन्दू कोडबिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है। बाली, श्याम, जावा, नेपाल के विधिविधान एवं आचार में मनुस्मृति का प्रभाव लक्षित होता है। वर्मा का 'धम्मछट्' मनुस्मृति से प्रभावित है। ब्रिटिश काल में न्याय हेतु मनुस्मृति के अंशों का अनुवाद अंग्रेजी में किया जाता था, किन्तु स्वार्थी टीकाकार पाण्डुलिपियों में इच्छानुरूप अपनी उक्तियाँ जोड़ देते थे। 'दत्तक मीमांसा' एवं 'दत्तक चन्द्रिका' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। कुल्लूक भट्ट एवं महर्षि दयानन्द ने तथा वूलर और जौली जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने मनुस्मृति के प्रक्षिप्त अंशों को बाहर निकालने का महनीय प्रयास किया। प्रो0 सुरेन्द्र कुमार ने अपने अनुसंधान में विषयविरोध प्रसंग विरोध, अतंर्विरोध, पुनरूक्ति विरोध, शैली विरोध, अवांतर विरोध तथा वेदविरोध इत्यादि सात मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त अंशों को बाहर करने का महनीय प्रयास किया है। उपलब्ध मनुस्मृति में कुल श्लोक सं0 2685 है। प्रक्षेपक अनुसंधान के पश्चात् 1471 श्लोक विद्वानों ने प्रक्षिप्त सिद्ध किये हैं। मेघातिथि से लेकर दयानन्द पर्यन्त 10 भाष्य तथा 30 टीकायें इस प्रकार प्राप्त हैं।

यह शोधप्रपत्र प्रो0 सुरेन्द्र कुमार द्वारा निर्दिष्ट मौलिक मनुस्मृति के आधार पर तैयार किया गया है। मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में विचार करते हुये मैंने समसामयिक समस्याओं से सम्बन्धित तीन प्रश्नों के समाधान पाने की चेष्टा की है-(1) जाति व्यवस्था के प्रति मनु का मन्तव्य है कि जाति व्यवस्था गुण एवं कर्मपरक है। (2) स्त्रियों के प्रति मनु महाराज की मान सम्मान पूर्ण दृष्टि है। स्त्रियों की शिक्षा एवं यज्ञ में सहभागिता के विरोधी नहीं हैं। (3) मनु हिंसा के पोषक कदापि नहीं हैं, अहिंसा के प्रबल समर्थक हैं।

वर्णव्यवस्था-कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं

आचार्य मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता से युक्त वर्णव्यवस्था नहीं मानते हैं। अपितु गुण या कर्मों के आधार पर स्वीकार करते हैं। वर्णों की आवश्यकता बताते हुये आचार्य ने 'लोकानां विबृदध्यर्थम्' अर्थात् समाज के संवर्धन के लिए तथा समग्र जगत की सुरक्षा के लिए वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है। यदि जन्म के आधार पर व्यक्ति श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जाये तो उससे समाज की वृद्धि नहीं हो सकेगी। केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा। जन्म से सभी प्रजायें एक समान होती हैं। उनमें गुण एवं कर्म के अनुसार चार वर्ण निर्मित किये गये हैं, जिससे समाज में सुव्यवस्था बनी रहे और वह निरंतर वृद्धि प्राप्त करता रहे। 'वर्णों वृणेतेः' अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाय वह वर्ण है-

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैतिशूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवंतु विद्याद्वैश्यातथैवच।।[2]

अर्थात् श्रेष्ठ अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण कर्मों के अनुसार कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो जाता है। यदि शूद्र के यहाँ उत्पन्न संतान उत्तमगुण युक्त हो तो वह यथा योग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य में भी वर्ण परिवर्तन मान्य है। मनु की मान्यता के अनुसार आचार्य विद्यार्जन के समय विद्यार्थी के गुणों, कर्मो तथा स्वभावों को जानकर ही वर्णों का निर्धारण करता है।

आचार्यत्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा।।[3]

जो वेदारम्भ, उपनयन रूप ब्रह्मजन्म को धारण नहीं करता वह शूद्र रह जाता है अर्थात् जन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र होते हैं-'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्चते' अर्थात् जो शिक्षा से संस्कारित नहीं, उसके लिए शूद्र संज्ञा दी गयी। मनु शूद्र को पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यदि वे उसे अस्पृश्य मानते तो सेवाकार्य का निर्देश नहीं देते।

शुचिरूत्कृष्टशुश्रुषुर्मृदुवागनहंकृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते।।[4]

इस श्लोक के सभी विशेषण ध्यान देने योग्य हैं। इस श्लोक में मनु की यह धारणा स्पष्ट होती है कि वे उसे पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। मनुवेदसम्मत आदर्शों को स्वीकार करते हैं। ''पंचजना: ममहोत्रंजुषध्वम्'' (ऋ0 10।53) कहकर शुद्र को यज्ञ करने का आदेश किया हैं। निरूक्त में ''पंचजना:'' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिष भोजी निषाद की गणना की गयी है।

मनु ने कहीं भी किसी जाति या व्यक्ति को अवमानना परक वाक्य नहीं कहे। आचार्य के विचारों से अवगत होने पर ही हम यह निर्णय कर सकते हैं कि मनु जाति व्यवस्था के संपोषक थे या आज की शिक्षण व्यवस्था जाति भेद की संपोषक है, जहाँ शिक्षकों को निर्देश दिये जाते हैं कि वे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति की सूची प्रमाण पत्र का सत्यापन करते हुये तैयार करें। पंक्ति बद्ध विद्यार्थियों में से एक-एक विद्यार्थी को बुलाकर उसके जाति प्रमाण पत्र का परीक्षण करना, प्रवेश करते समय ही विद्यार्थियों में जाति भेद के बीज बोना है। जाति विद्वेष का अंकुर यहीं से फूटता है। समत्व की भावना का यहीं से ह्रास होता है। इस ओर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। उक्त विद्वेष के विकसित होने में मनु के किसी कथन का योगदान नहीं है। आशय है कि वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने की आवश्यकता है, तथ्यपरक गवेषणाओं की अपेक्षा है, वरना भावी पीढ़ी के अंदर मनु के प्रति क्या संस्कार पनपेगें? उससे भारतीय संस्कृति की मौलिकता किस प्रकार प्रभावित होगी? यह अत्यन्त विचारणीय विषय है। अर्थ के रहस्य को समझे बिना, समय के विविध आयामों को समझे बिना किसी आचार्य या मान्य ग्रन्थ को विवादास्पद बनाना, भ्रान्तिपूर्ण धारणायें फैलाना, आज के संस्कृति निष्ठ समाज के लिए विचारणीय विषय है।

स्त्रियों के प्रति मनु की धारणा

आचार्य मनु ने स्त्रियों को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। वे स्त्रियों को घर की स्वामिनी, गृहलक्ष्मी, देवी और गृहदीप्ति इत्यादि विशेषण देते हैं। उनका कथन सर्वविदित है-

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाक्रिया:।।[5]

यहाँ पूजा का अर्थ सत्कार या सम्मान है। जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहाँ नारियाँ प्रसन्न रहती हैं अर्थात् घर का वातावरण सुख एवं शांतिमय होता है। घर की सुखशान्ति से उत्तम सन्तान, उत्तम शिक्षा एवं उत्तम ऐश्वर्य आदि गुणों की वृद्धि होती है। इसके विपरीत जहाँ नारियों का अनादर होता है उस परिवार में अशान्ति के कारण सभी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कार्येषूत्सवेषु च।।
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।[6]

इसके अतिरिक्त मदिरा पान करने वाली, रोगी, बन्ध्या अथवा अन्य कारणों से युक्त पत्नी के भरणपोषण का दायित्व भी पुरूष के लिए आवश्यक बताया है। मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण दमनात्मक, अस्वतंत्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है।

अर्थस्य संग्रहे चैनां, व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचेधर्मेऽन्नपक्त्यांच परिणाहयस्यवेक्षणे।।[7]

अर्थात् स्त्री को धन की सारसंभाल में, व्यय की जिम्मेदारी में, घर की शुद्धि में, धर्म सम्बन्धी अनुष्ठान में अर्थात् अग्निहोत्रादि में, स्वाध्याय में, भोजन तथा घर की सुव्यवस्था में लगायें। उनके इन वचनों से यही संकेत प्राप्त होता है कि स्त्री के सुशिक्षित होने पर एवं यज्ञयागादि का संयोजन करने में मनु का विरोध नहीं है। स्त्री के अशिक्षित होने पर उससे धन की सारसंभाल, अग्निहोत्रादि यज्ञीय व्यवस्थाओं में समान अधिकारिणी होने की संभावना नही हो सकती थी, अतएव मनु नारी शिक्षा के विरोधी नहीं थे। ये कर्तव्य अल्पायु की कन्या द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते अपितु समझदार युवती के कर्तव्य हैं। 'इमं मंत्रं पत्नी पठेत्' (श्रोतसूत्र) यदि स्त्री वेदादि न पढ़ी हो तो यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण संस्कृत में कैसे कर सकेगी। इस संदर्भ में मनु ने वेदानुकूल धर्मोपदेश दिया है। वेदों में कहा गया है-"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अथर्ववेद 11।5।55)। युवकों के समान कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या ग्रहण करके अपने सदृश विद्वान युवा पति को प्राप्त होवे।

उन्होंने स्त्रियों के सभी संस्कार यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान भी किया है।

वे प्रत्येक धर्म कार्य में स्त्री पुरूष का समान अधिकार समझते हैं। जात कर्म के अवसर पर 'मन्त्रवत् प्राशनं चास्य' कहकर शहद चटाने का विधान है। नामकरण, अग्नि होत्रपूर्वक दैवविवाह कराने का विधान एवं अन्त्येष्टि मन्त्रपूर्वक करने का विधान है। वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है।

यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।।[8]

इसके अतिरिक्त वैदिक काल में अदिति, जुहू, इन्द्राणी, घोषा, अपाला, रोमशा, गार्गी आदि ऐसी बहुत सी ऋषिकायें हुयी हैं जो मंत्रदृष्टा थीं। अतः स्वयं वेद में विहित इन मान्यताओं के विरूद्ध मनु की धारणा नहीं हो सकती।

प्रजनार्थं महाभागाः, पूजार्हाः गृहादीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन्।।[9]
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्।।[10]

उक्त श्लोकों से यह तो स्पष्ट होता है कि मनु स्त्री को पुरूष की दासी या अधीनता में रहने वाली नहीं मानते अपितु दोनों को एक दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करने को कहते हैं-

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।[11]

इसी सन्दर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि मनु की मान्यता के अनुरूप पुत्र और पुत्री दोनों दायभाग के अधिकारी हैं।

यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहितासमा।
तस्यात्मनि तिष्ठन्त्यां, कथमन्यो धनं हरेत्।।[12]

अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्र जैसी ही पुत्री को माना है, उसके रहते पैतृक धन को कोई दूसरा कैसे ले सकता है, अर्थात् पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है।

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारी भाग एव सः।
दौहित्र एवं हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्।।

माता का समस्त धन कन्या का होता है, पुत्रहीन नाना के सम्पूर्ण धन को धेवता ही प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त मनु का यह कथन भी द्रष्टव्य है-

पत्यौजीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन् दायदा भजमानाः पतन्ति ते।।[13]

पति के जीते जी जो आभूषण स्त्री धारण करती है, उसे पति की मृत्यु के पश्चात् पुत्रादि धन के अधिकारी आपस में न बाँटे, न छीने ऐसा करने पर वे 'पतित' कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त पत्नी पर झूठा दोषारोपण करने का एवं अपशब्द कहने का भी निषेध किया है, जो कोई ऐसा करे वह दण्डनीय है।

उक्त मान्यताओं के आधार पर स्त्रियों के प्रति मनुस्मृति के उदार भाव प्रकट होते हैं

मनु के अनुसार अहिंसा पालन एवं हिंसा निषेध मान्य है

महर्षि ने गृहस्थों और वानप्रस्थों के लिए पाँच महायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है। इन यज्ञों का विधान हिंसा की निवृत्ति के लिए ही किया गया है।

पंच सूनागृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनीचोदकुंभश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थ महर्षिभिः।
पंचक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।[14]

चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली तथा पानी का घड़ा ये पाँच हिंसा के स्थान हैं। इन हिंसा दोषों की निवृत्ति के लिए अध्ययन-अध्यापन रूपी ब्रह्मयज्ञ, माता-पिता की सेवा रूपी पितृयज्ञ, हवन रूपी देवयज्ञ, पशु पक्षी तथा अन्य सहायों को भोजन देना रूपी भूतयज्ञ अतिथि सत्कार रूपी नृयज्ञ अवश्य करने चाहिए। इससे यह प्रतीत होता है कि मनु दैनिकचर्या में अज्ञानवश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं की निवृति के लिए भी प्रायश्चित का विधान करते हैं, परपीड़ा की भावना भी नहीं हैं। उन्होंने आजीविका भी ऐसी अपनाने का उपदेश दिया है, जिससे किसी को पीड़ा न पहुँचे। पशुओं की सवारी करते हुये उन्हें इस प्रकार चाबुक प्रयुक्त करने का निर्देश देते हैं कि पशु संतप्त न हो। ऐसे ऋषि पशुओं की हिंसा एवं माँस भक्षण का निर्देश कदापि नहीं दे सकते। वे यज्ञों में पशु हिंसा के समर्थक हो ही नहीं सकते क्योंकि उनका कथन है-

अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ताच खादकश्चिेति घातका:।।

सलाह देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने एवं बेचने वाला, पकाने वाला, लाने वाला तथा खाने वाला अर्थात् माँस भक्षण में किसी भी प्रकार सहयोग देने वाले को घातक पापी कहा है। उनके अहिंसा के लिए कहे गये अनेकश: प्रेरक वचन द्रष्टव्य हैं-

वर्जयेत मद्यमांस च प्राणिनां चैव हिंसनम्।[15]
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेघते।।[16]
यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते।।[17]

अर्थात् जो व्यक्ति प्राणियों को बन्धन में डालने, वध करने एवं उनको पीड़ा पहुँचाने की इच्छा नहीं करता वह सब प्राणियों का हितैषी, बहुत अधिक सुख को प्राप्त करता है।

माँस भक्षण अथवा यज्ञों में हिंसा का वेदों में स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। यहाँ तक कि केवल अन्नाहारी व्यक्तियों को यज्ञ करने का अधिकार दिया है। यज्ञ के लिए अन्नैः एवं मध्यैः पदों का प्रयोग किया गया है। वेदों में यज्ञ के लिए ऋग्वेद में और यजुर्वेद में अनेक स्थानों पर 'अध्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अध्वर्' की निरूक्ति करते समय यास्क लिखते हैं-'अध्वरइति यज्ञ नाम, ध्वरति हिंसाकर्म तत्प्रतिषेध:' (नि० 3।17।1।7)। 'ध्वर्' हिंसार्थक धातु से बना है जिसमें हिंसा न हो उसे अध्वर् कहते हैं। इस संज्ञा से ही स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा निर्देश नहीं किया गया है। बल्कि-

ऊर्णाद: उत यज्ञियास: पंचजना: ममहोत्रंजुषध्वम्।[18]

अर्थात् केवल अन्नाहारी और यज्ञीय प्रवृत्ति वाले पाँचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद व्यक्ति यज्ञ सम्पादन करें।

इस प्रकार अहिंसा पालन हिंसा निषेध की मान्यता मनुस्मृति की मान्यता है।

उक्त संधारणाओं से स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति के मूल स्रोत धर्मशास्त्रों में जाति द्वेष, नारी की अवमानना या हिंसा परक धारणाओं का किसी भी प्रकार समर्थन नहीं किया गया। ऐसी धारणायें जोड़ने वाले, भ्रान्तियों का दुष्प्रचार करने वाले स्वार्थी व्यक्ति ही हो सकते हैं। उसके लिए मनुस्मृति को दोष देकर भावी पीढ़ी में गलत संस्कार देना उचित

नहीं है। भ्रान्तियाँ कर्णपरम्परा से चलती हुयी अचेतन मन में संस्कार का रूप ले लेती हैं तथा कालान्तर में अनिष्टकारी हो जाती हैं, जो संस्कृत वाङ्मय के लिए एवं भारतीय संस्कृति के समुपासकों के लिए हितकर नहीं। अतएव ऐसे तथ्य समाज के समक्ष रखकर भ्रान्तियों का निर्मूलन करना हमारा दायित्व बनता है। इससे भावी पीढ़ी तो सुसंस्कारित होगी ही अपने मान्य ग्रन्थों की सुरक्षा भी होगी।

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति 2।13
2. मनुस्मृति 10।65
3. मनुस्मृति 2।148
4. मनुस्मृति 9।335
5. मनुस्मृति 3।56
6. मनुस्मृति 3।5, 7।58
7. मनुस्मृति 9।11
8. यजुर्वेद 26।21
9. मनुस्मृति 9।25
10. मनुस्मृति 9।27
11. मनुस्मृति 9।101
12. मनुस्मृति 9।130
13. मनुस्मृति 9।200
14. मनुस्मृति 3।68, 69
15. मनुस्मृति 2।52
16. मनुस्मृति 4।170
17. मनुस्मृति 5।46
18. ऋग्वेद 10।53।4

•

'आद्याचतुश्शती' में अध्यात्म चिन्तन

'आद्याचतुश्शती' के प्रारम्भ में ही 'समर्पणम्' के अन्तर्गत भारतीय चिन्तन में निष्णात कवि ने 'सर्वगुरवे परमेश्वराय' कहकर जगद्गुरू परमेश्वर के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट की है। मनुष्य के अन्तर्मन में सुप्त भावनाओं को जाग्रत कर वाणी के माध्यम से मुखरित करने की सामर्थ्य परमेश्वर में ही है। वे सम्पूर्ण शक्ति के स्वामी, अपने तेज से सञ्जीवनी शक्ति प्रदान करने वाले हैं। उनकी प्रेरणा से ही कवित्व-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वे गुरुओं के भी गुरु हैं। उन्हें ही 'आद्याचतुश्शती' नामक कृति कवि ने समर्पित की है।

ग्रन्थ का मङ्गलाचरण करते हुये कवि ने माँ सरस्वती के साथ भगवान्नारायण की स्तुति ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु की है। कवि का 'अभिवन्दनम्' वन्दनीय है-

निर्विघ्नसिद्धौ परमप्रवीणो, नारायणो वै ससरस्वतीकः।
मदीय वाण्या हि विकासहेतोः, कृपाकरो देवगणाधिपः स्यात्।।[1]

भगवान्नारायण ईश्वर का परस्वरूप हैं। उन्हें ही भागवत महापुराण में परमात्मा और उपनिषदों में 'ब्रह्म' कहा गया है। वही अन्तर्यामी है। भक्तों की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए प्रभु नारायण ही नाना रूपों में प्रकट होते हैं। वस्तुतः भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म तीनों एक ही तत्त्व की विभिन्न विशेषताओं को प्रकट करने वाले अलग-अलग तत्व लगते हैं। एक होते हुये भी दृष्टिभेद से भिन्न प्रतीत होते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।-भागवत I।2।11

द्वितीय छन्द में कवि ने माँ सरस्वती की वंदना की है, क्योंकि भगवती सरस्वती कवियों के अभीष्टों को पूर्ण करने वाली हैं। श्वेत वस्त्र-धारिणी हैं, वीणा-धारणी हैं। निर्विकार हैं तथा सभी की हितैषिणी हैं, सदैव पूज्य हैं।

इसके बाद कवि ने आदि कवि महर्षि बाल्मीकि को स्मरण किया है। कवि की प्रार्थना है कि आदि छन्द के प्रयोक्ता, सिद्ध मुनि बाल्मीकि उन्हें भी कवित्व-प्रतिभा प्रदान करें। कवि की दृष्टि में कृष्ण द्वैपायन व्यास पावित्र्य प्रदान करने में सक्षम हैं, वे सागर तुल्य हैं, उनकी वाणी सुविस्तार विशाल तरङ्गें हैं, तत्वज्ञान ही सुरम्य तट है।

कवि ने प्रेरणा स्रोत महाकवि कालिदास, रससिद्ध भारवि, माघ एवं भवभूति से विनम्र अभ्यर्थना की है। इसके पश्चात् कवि ने निर्गुण, निराकार ब्रह्म का ध्यान करते हुये 'परम सत्य' का वर्णन किया है।

मनीषी कवि मिश्र के अनुसार 'कं' अर्थात् सुख या आनंद ही परमेश्वर का परमार्थ रूप है। वह आनन्द स्वरूप है, चिद्घन होने से चिदानंद है, परमार्थतः उसी की सत्ता है, शेष समस्त ब्रह्माण्ड उसी की सत्ता से सत् है। वस्तुतः सकल ब्रह्माण्ड की सत्ता मायिक या प्रतीयमान है, पारमार्थिक नहीं-

चिद्घनत्वाच्चिदानन्दस्तदेवास्तीति निश्चितम्।
पारमार्थ्येन सच्चास्तीत्यतस्तत् सच्चिदात्मकम्।।[2]

'आद्याचतुश्शती' के अध्ययनोपरान्त ज्ञात होता है कि कवि, दार्शनिक, आजीवन भारतीय दर्शन, संस्कृत एवं संस्कृति के अध्येता रहने वाले, स्वाध्याययुत कवि परम भागवत् हैं। ऐसा मेरा अनुभव है क्योंकि कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में भगवान्नारायण की वंदना की है। ग्रन्थ के मध्य में जगह-जगह ईश्वर के प्रति परम श्रद्धा प्रकट करते हुये कवि ने ग्रन्थ के अंत में भी परमात्मा को श्रद्धापूर्वक ग्रन्थ समर्पित किया है। उनकी दृष्टि में ईश्वर ही परमप्रेमास्पद है।

परमात्मनि परं प्रेम निःश्रेयसकरं महत्।
तद्भिन्ने तु कृतं तद्धि बध्नातीति त्यजेद्बुधः।।[3]

कवि ने अनेकशः परमेश्वर का एवं उनके अवतारों का माहात्म्य वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि निराकार परमेश्वर ही लोकहित कामना से सगुण रूप में अवतीर्ण होते हैं। निराकार परमेश्वर के लिए कवि के विचार द्रष्टव्य हैं-

ब्रह्मा प्रजापतिपतिः सृजतीह जीवान्,
विष्णुश्च रक्षतितमां सकलैश्च देवैः।
अन्ते हरो हरति तान् सकलैः सहायैः,
माया-विभूतय इमे परमेश्वरस्य।।[4]

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये त्रिदेव मायाधिपति परमेश्वर की ही माया रचित विभूतियाँ हैं। अपने-अपने पृथक् रूप से युक्त ये तीनों देव मायाधिपति अनन्त शक्ति सम्पन्न परमेश्वर के आदेश से लोकहित करने में सतत व्यस्त रहते हैं।

रूपत्रयेण सहिता सततं निदेशे।
व्यस्ता समस्तसमये जगतो हिताय।।[5]

भगवान् के अवतारों की अनुपम छवि का वर्णन करने में स्वयं भगवती सरस्वती या भगवान वृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं। राम एवं कृष्ण की रूपमाधुरी एवं लीलामाधुरी से कवि का हृदय आनंदाप्लावित है, तभी तो उनकी वाणी से ये शब्द निससृत होते हैं।

छविं लेखितुं चित्रकाराः सुदक्षाः,
न जाने कियन्तः प्रयासं विदध्युः।
परं नैव साफल्यमापुर्जगत्या-,
महो ईदृशी तच्छवी रम्यरूपा।।[6]

परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह (प्रेम) होना ही भक्ति है। यही एकमात्र 'मुक्ति' का साधन है। 'भक्ति' शब्द 'भज् सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनता है। जिसका अर्थ है 'प्रेमपूर्वक सेवा करना'। निर्गुण, निराकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले सगुण, साकार अवतारों के प्रति भक्ति भाव होना आवश्यक है। जब ईश्वर की विभूतियों-सूर्य, चन्द्र, सागर, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश में ईश्वरीय सत्ता के दर्शन होने लगे तथा प्रभु के अवतारों के प्रति सुदृढ़ भक्तिभाव हो जाय, तब निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में साधक स्वयं तत्पर हो जाता है। उसकी द्वैत बुद्धि स्वतः लुप्त हो जाती है। कवि को विश्वास है कि चिद्घन परमात्मा जब दिव्य आकार ग्रहण करते हैं, तो वे चित्त को मोह लेते हैं, मंत्रमुग्ध कर लेते हैं। यही बात कवि ने बड़ी सुन्दरता से प्रकट की है।

चित्ताकर्षिणी शोभा निराकारे न विद्यते।
आकृतेर्ग्रहणैनैव चिदात्मा चित्तमोहकः।।[7]

वह राम के रूप में हों या कृष्ण के रूप में, तीनों लोकों के दुःखों को दूर करने वाले हैं-

साकेते मथुरायां वा जात एवं जगत्प्रभुः।
दुःखं लोकत्रयस्यैव विनाशयति मूलतः।।[8]

कवि की भक्तिभावना उनके द्वारा वर्णित 'वामनो जाह्नवी-स्रोतः' 'रामो राजमणिः' 'गजराजः' 'कृष्णः वन्द्यो जगद्गुरुः' 'हरेर्नामानकीर्तनम्' 'हरिनामानुरक्तः शुकः' में स्पष्ट देखी जा सकती है। इन सन्दर्भों में कवि ने श्रीमद्भागवतपुराण के कथा-प्रसङ्गों की ओर संकेत करते हुये परमेश्वर के विविध अवतारों के प्रति श्रद्धा प्रकट की है तथा प्रभु की भक्तवत्सलता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः भक्ति

से ईश्वर-प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम-भक्ति से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इसी से सारे क्लेशों की निवृत्ति होती है। भक्ति के प्रति कवि का विचार है कि ईश्वर के प्रति निर्हेतुक, निष्काम एवं निरतिशय प्रेम ही भक्ति है। नारद-सूत्र के अनुसार ईश्वर के विषय में चिन्तन, स्मरण, सम्भाषण, कीर्तन एवं सेवन 'भक्ति' है। ये सभी लक्षण मनीषी कवि की रचनाओं में स्वतः स्फूर्त हुये हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है कि भगवान् की अनन्य भक्ति से बढ़कर अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने स्वयं कहा है, जो अनन्य भक्ति से मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं मृत्यु रूपी संसार-सागर से पार कर देता हूँ। भक्ति में भक्त का परमेश्वर के प्रति समर्पण-भाव या शरणागति-भाव होना आवश्यक है। भक्त कवि का भगवत्प्रेम एवं प्रपत्तिभाव इस प्रकार प्रकट हुआ है-

जगत्तवास्तीति न तत्र कश्चना-,
प्यनिश्चयोऽस्तीति मयाऽनुमीयते।
एवं तवाहं त्वमपीह मामको,
द्वयोस्तु सम्बन्धविधानमस्ति च।।[9]

'हे प्रभु! यह सारी सृष्टि तुम्हारी है, मैं तुम्हारा हूँ, तुम भी मेरे हो, एवं हम दोनों के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध है।'

नितान्त निर्मल स्वभाव वालों को ही भक्ति सुलभ होती है। इस विषय में कवि का चिन्तन इस प्रकार आविर्भूत है-

तपस्विमात्रं च मनो, भगवन्तमाप्तुमर्हतीति सत्यम्।
तस्माच्छुद्धो भावो, भगवत्प्राप्त्युपायो मुख्यः।।[10]

भगवन्नामस्मरण कवि-हृदय से बारंबार मुखरित हुआ है। चाहे वह भगवान राम के नाम के रूप में हो या कृष्ण के नाम के रूप में या किसी अन्य रूप में हो। यथा-

भक्तार्तिहर्ता करुणाकरश्च,
स्मर्तुर्मनश्शान्तिकरः परञ्च।
दयापरो दीनदयालु-बन्धुः,
श्री रामचन्द्रः शरणं समेषाम्।।[11]
कृष्णानुरागिचित्तस्य विचित्रैव गतिः सखे।
असकृत् ब्रुडित्वा तस्मिन् न कृष्णमपितूज्ज्वलम्।।[12]

भगवन्नाम-कीर्तन का भावप्रवाह कवि की सरल, सहज, प्रसाद-पूर्ण शैली में देखिए-

शिवहरे! शिवकृष्ण! कृपानिधे!
यदुपतेऽखिलताप-निवारक।
अज! जनेश्वर! यादव! श्रीहरे!
नरहरे! स्वजनेषु कृपां कुरु।।[13]
श्रीकृष्ण! गोबिन्द! हरे मुरारे
गोपाल! गोपेश्वर! दीनबन्धो!
दामोदर! श्रीधर! कौस्तुभाङ्क,
दीनं जनं पाहि हरे! सदैव।।[14]

कवि ने एक नूतन कल्पना प्रस्तुत की है। 'शुकयोनि' मानो कीर्तन करने के लिए ही विशेषतः प्रभु ने निर्धारित की है, तभी तो नाम लेने में अभ्यस्त 'कीर' (तोता) निरंतर कीर्तन करने में ही तत्पर रहता है।

नामसङ्कीर्तनं शिक्षितं किं सखे!
पक्षिजन्म त्वया सार्थकं साधितुम्?
नामधेयं ततः 'कीर' इत्यस्ति किम्?
त्वद्धरिर्नाम किं वक्त्यभेदं हरेः??[15]

भक्तिपूर्ण कवि-हृदय को सम्यग्रूपेण ज्ञात है कि ब्रह्म निर्गुण एवं निराकार है। वह माया से उपहित होने पर, उसका स्वामी होने से ही 'परमेश्वर' कहा जाता है। सच्चिदानंद ब्रह्म तो निर्गुण ही है।

तदेवास्ति निराकारं निर्गुणं चापि निश्चितम्।
जगत्सृष्ट्यर्थमेवादौ माययोपहितं भवेत्।।[16]
मायायास्त्रिगुणत्वाच्च तस्याः स्वामित्वकारणात्।
तदेव सगुणं भूत्वा परमेश्वर-संज्ञकम्।।[17]

आचार्य श्री के अनुसार परमेश्वर 'ऋत' रूप से सारी सृष्टि को व्यवस्थित करता है। 'ऋत' ही प्रकृति के शाश्वत नियमों की प्रतिष्ठा करता है, वही संसार का नियामक है। वस्तुतः 'ऋत' वह दैवी या नैतिक नियम है जिससे ब्रह्माण्ड परिचालित है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आदि सभी उसके ही विविध रूप हैं। वेदों के अनुसार सभी प्राकृतिक पदार्थ चेतन एवं दैवीय शक्ति से सम्पन्न हैं। हमारे ऋषियों ने भी आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी एवं पर्जन्य आदि में परमात्मा की सत्ता मानकर उसमें चेतन का अनुभव किया, उनसे आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित

किया था। किन्तु आज का मानव सम्पूर्ण प्रकृति को 'जड़' समझकर उसका उपभोग करता है। उसके मन में प्राकृतिक तत्वों के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं है। मानव के अंदर भेद बुद्धि इतनी परिपक्व हो चुकी है कि उसकी स्वार्थान्ध दृष्टि सृष्टि के नियमों का उल्लंघन करती जा रही है। वह स्वयं को ही सृष्टि का स्वामी समझने की भूल कर बैठा है। कवि का मन्तव्य है कि ईश्वरीय प्रकृति ने जीने के साधन सभी प्राणियों के लिए उपलब्ध कराये हैं। उनके दुरुपयोग से लोक अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है-

ऋते या गतिः सामरस्यं हि तस्यां,
यथा भास्करस्य प्रकाशः समेभ्यः।
यथा स्यन्दमानाश्च नद्यः समेभ्यो,
न रुद्धप्रवाहा भवन्त्यध्वमध्ये।।[18]
× × × × × × × ×
इदं सामरस्यं यदा भेदबुद्ध्या,
विनाश्येत लोभान्धदृष्ट्या कदापि।
तदा शान्तिभङ्गस्तदान्दोलनं च,
भवत्येव राष्ट्रे समाजे च विश्वे।।[19]

सकल शास्त्र सुविज्ञ कवि का अटल विश्वास है कि 'ऋत' में समरसता है। जैसे सूर्य का प्रकाश सभी के लिये हैं। नदियों का जल सभी के लिए है। मेघों की वृष्टि सभी के लिए है। वायु सभी के लिये है। वृक्ष सभी के लिए फलधारण करते हैं, किसी एक के लिए नहीं। जब भी कोई समाज या राष्ट्र 'ऋत' सृष्टि के नियामक ईश्वरीय विधान का अनुसरण छोड़कर उसका उल्लघंन करने लगता है तब लोक में उसका अस्तित्व देर तक नहीं बना रह सकता। तब सृष्टि के उस महाविपत्ति काल में पृथ्वी के भारभूत दुर्जनों को दूर करने के लिए प्रभु का अवतरण पृथ्वी पर होता है। यह ध्रुव सत्य है।

जीवन की अस्थिरता की ओर संङ्केत करते हुये कवि ने काल का महत्त्व वर्णित किया है। इस जीव-लोक में प्राणिमात्र का जीवन अस्थिर है, अनित्य है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है-'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'। कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन, घड़ी, क्षण आदि नामों से कहे जाने वाले जिस 'काल' से आयु-गणना होती है, 'काल:कलयतामहम्' कहकर उस क्षीयमाण काल को भी प्रभु ने अपना ही स्वरूप बताया है। इससे परे 'महाकाल' का अक्षय रूप है।

'अक्षय कालः' कहकर भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में अपने को 'नित्यकाल' भी कहा है। यह काल से परे अतिकालिक होने से नित्य भगवद्रूप है। कवि की उक्ति दर्शनीय है-

अहमेवाक्षयः काल इत्युक्त्या परमेश्वरः।
नित्यः कालोऽस्ति स पर आतिकालिक एव च।।[20]

अतः मनुष्य को शरीर में प्राण रहते ही अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर लेना चाहिए। कवि के शब्दों में-

यावन्नवद्वारे पुरेऽसवः स्युः।
कार्यं समाप्यं खलु तावदेव।।[21]

मनुष्य का परम् प्राप्तव्य ईश्वर ही है। यद्यपि वह सदैव सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है। उससे पृथक् कुछ भी प्रिय नहीं है।

प्राप्यं समस्तं प्रियमप्रियं वा,
वस्तुत्वश्यं भजते पृथक्त्वम्।
किन्त्वात्मरूपेण हृदिस्थितो यः,
प्रभुः, पृथक्त्वं सकथं भजेत्।।[22]

ग्रन्थ के अंत में कवि ने अपनी कृति 'आद्याचतुश्शती' को पुनः प्रभु को समर्पित करते हुये अपनी अन्तः जनित श्रद्धा प्रकट की है, मानो श्रद्धा स्वतः स्फूर्त हो गयी है।

युगरसवियन्नेत्रे वैक्रमाब्दे शुभे पुनः,
अक्षयाख्यतृतीयायामियमाद्याचतुश्शती।
गतापूर्तिं कृपालोर्हि प्रभोर्यस्यानुकम्पया,
तस्मै निवेद्यते श्रद्धापूर्वकं प्रीयतां ह्यसौ।।[23]

इस प्रकार 'आद्याचतुश्शती' में हमें कवि की कवित्व-प्रतिभा के साथ ही अगाध भक्ति के भी दर्शन होते हैं। कवि की वाणी ज्ञान-सम्पन्न है। प्रस्तुत रचना सुप्रौढ़ कवि की कर्मठता का प्रतीक है। कवि का जीवन-दर्शन कर्म, ज्ञान एवं भक्ति का समन्वय है जो प्रेरणादायक है।

प्रस्तुत निबन्ध को 'तत्त्वखण्ड' तक ही सीमित रखा गया है, विषय-विस्तार के भय से। कवि का व्यावहारिक चिन्तन तो वस्तुतः ग्रन्थ के राष्ट्र-खण्ड, सन्नीति-खण्ड एवं सच्छिक्षा-खण्ड में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। समुन्नत राष्ट्र के क्या लक्षण हैं, एवं राष्ट्र-निर्माण के क्या उपाय हैं, राष्ट्र बलवान् कैसे हो सकता है-इस सब पर

कवि का गम्भीर चिन्तन राष्ट्र-खण्ड की कविताओं में ही द्रष्टव्य है। इसी प्रकार सही शिक्षा, राष्ट्र-निर्मात्री शिक्षा तथा व्यक्ति-निर्माण शिक्षा पर कवि के सुचिन्तित विचार सच्छिक्षा-खण्ड में द्रष्टव्य हैं। लक्ष्य के विषय में दृढ निश्चय एवं उसे धैर्य-पूर्वक कार्यान्वित करने के लिये अपेक्षित पुरुषार्थ (अर्थात् पौरुष) का अनुष्ठान सर्वथा अपेक्षित है, उसी से राष्ट्र एवं उसके व्यक्तियों का निर्माण सम्भव है-यह विचार इस खण्ड में स्थापित हुआ है। इसी प्रकार काल-खण्ड में 'काल' को सर्वाधिक बहुमूल्य पदार्थ बताकर, उसकी उपेक्षा कदापि न करने की शिक्षा दी गई है और बताया गया है कि काल की कीमत समझते हुये उसका सदुपयोग करना राष्ट्र-निर्माण एवं व्यक्ति-निर्माण-दोनों के लिये अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। सत्पुरुष-खण्ड में सत्पुरुषों के अन्य लक्षणों के साथ एक लक्षण यह भी बताया गया है कि सत्पुरुष मृत्यु के भय से मुक्ति पाने के लिये जिजीविषा-जीने की प्रबल इच्छा-नही पालते, क्योंकि जीने की प्रबल इच्छा के कारण ही आसन्न मृत्यु का भय बना रहता है। जिसे जीने की इच्छा नहीं, उसे मृत्यु से क्या भय? वह चाहे जब आये, इस उच्च भाव से सम्वलित सत्पुरुष निर्भय होकर अपने कर्तव्य में निरत रहते हैं। अन्तिम 'प्रेमखण्ड' में प्रेम का स्वरूप, उसका मूल हेतु, एवं परमात्म-प्रेम से मुक्ति आदि का विचार विशकलित एवं विवेचित है। वस्तुतः इसे-परमात्मा से अभिन्न बताकर, उसे ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य निर्धारित किया गया है। संक्षेप में 'आद्याचतुश्शती' के कवि का तत्त्वचिन्तन-तत्त्व के विषय में उसकी दार्शनिक दृष्टि-इन सब पर विचार किये जाने पर ही पूर्णतया प्रकट हो सकता है अन्यथा नहीं।

सन्दर्भ

1. आद्याचतुश्शती, अभिवन्दनम्, तत्व खण्ड, पृ0 11
2. आद्याचतुश्शती, सत्यं परं धीमहि, तत्व खण्ड, पृ0 13
3. आद्याचतुश्शती, प्रेम्णैव मुक्तिः, प्रेम खण्ड, पृ0 189
4. आद्याचतुश्शती, निराकारः परमेश्वरः, तत्व खण्ड, पृ0 23
5. आद्याचतुश्शती, निराकारः परमेश्वरः, तत्व खण्ड, पृ0 24
6. आद्याचतुश्शती, अवताराः, तत्व खण्ड, पृ0 26
7. आद्याचतुश्शती, साकार ईश्वरः, तत्व खण्ड, पृ0 32
8. आद्याचतुश्शती, साकार ईश्वरः, तत्व खण्ड, पृ0 32

9. आद्याचतुश्शती, भगवत्स्तुतिः, तत्व खण्ड, पृ0 29
10. आद्याचतुश्शती, भगवत्स्तुतिः, तत्व खण्ड, पृ0 30
11. आद्याचतुश्शती, रामो राजमणिः, तत्व खण्ड, पृ0 40
12. आद्याचतुश्शती, कृष्णः वन्द्यः जगद्गुरूः, तत्व खण्ड, पृ0 48
13. आद्याचतुश्शती, हरेर्नामानुकीर्तनम्, तत्व खण्ड, पृ0 49
14. आद्याचतुश्शती, हरेर्नामानुकीर्तनम्, तत्व खण्ड, पृ0 50
15. आद्याचतुश्शती, हरिर्नामानुरक्तः शुकः, तत्व खण्ड, पृ0 52
16. आद्याचतुश्शती, सत्यं परं धीमहि, तत्व खण्ड, पृ0 14
17. आद्याचतुश्शती, सत्यं परं धीमहि, तत्व खण्ड, पृ0 14
18. आद्याचतुश्शती, ऋतम्, तत्व खण्ड, पृ0 17
19. आद्याचतुश्शती, ऋतम्, तत्व खण्ड, पृ0 18
20. आद्याचतुश्शती, कालः, काल खण्ड, पृ0 123
21. आद्याचतुश्शती, कालः, काल खण्ड, पृ0 132
22. आद्याचतुश्शती, प्रेम्णैव मुक्तिः, प्रेम खण्ड, पृ0 192
23. आद्याचतुश्शती, प्रेम्णैव मुक्तिः, प्रेम खण्ड, पृ0 192

तृतीय-खण्ड

पर्यावरणीय चेतना

संस्कृत साहित्य में पर्यावरणीय संचेतना

संस्कृत साहित्य में किसी भी विद्या के ग्रन्थों में चाहे वह महाकाव्य हो या खण्ड काव्य, नाटक हो या गद्य, कथा हो चम्पू सर्वत्र हमें कवियों के द्वारा वर्णित पर्यावरणीय तत्वों के पर्याप्त चित्रण प्राप्त होते हैं। पृथिवी में जीवन के संघटक तत्व ही पर्यावरण है, जिनसे प्राणी मात्र का जीवन संचालित होता है, जिनके क्षति ग्रस्त होने पर सभी प्राणियों का जीवन क्षतिशील होता है, ऐसे तत्वों को संस्कृत साहित्य में दैवीय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सूर्य, चन्द्रमा, जल पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश और यजमान ये शिव के आठ रूप बताये गये हैं। इन रूपों से युक्त भगवान शिव समस्त लोक का कल्याण करें ऐसी कामना की गयी है। उक्त तत्वों को शिव स्वरूप मानना एवं उनसे जगत के कल्याण की प्रार्थना करना, इस तथ्य का द्योतक है कि संस्कृत साहित्य में पर्यावरणीय संचेतना पूरी तरह से व्याप्त थी।

शुद्ध पर्यावरण जीवन के लिए कितना आवश्यक है इसके प्रति हमारे पूर्वज सदैव सचेत रहे हैं। नदी, पर्वत, सागर, सायं, दिन एवं रात्रि के जितने सूक्ष्म एवं स्वाभाविक चित्रण हमें संस्कृत साहित्य में प्राप्त होते हैं, वह कोरी कल्पना नहीं प्रत्युत तत्कालीन पर्यावरणीय संचेतना को प्रकट करते हैं।

वस्तुत: प्राचीन भारत में पर्यावरण जीवन से अलग तत्व नहीं था वह जीवन का ही अंग था। उपभोक्तावादी प्रवृत्ति इतनी अधिक नहीं थी कि स्वार्थी तत्वों के लिए पर्यावरणीय तत्वों का विनाश किया जाय। महर्षि बाल्मीकि, महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाण इत्यादि कवियों ने प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किये हैं। चाहे वह सघन वन हो या राजनगरों के उद्यान, ऋषियों के आश्रम हों या सामान्य आवास। वे प्रकृति को मानव की सहचरी मानते हैं। संस्कृत कवियों ने प्रकृति के समस्त क्रिया कलापों का वर्णन उसी प्रकार किया है, जैसे मानव जीवन में सभी क्रियाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

उदाहरणार्थ गंगा हमारे जीवन से अत्यन्त जुड़ी हुयी पवित्र सलिला, पतित पावनी साक्षात् देवी स्वरूप पृथ्वी तल पर विद्यमान है। इनकी पवित्रता सदैव संरक्षित रहे इसी धारणा से पद्म पुराण में वर्णन हैं-

श्लेष्माणं वापि निष्ठीवं वा गंगातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्पकोटिशतैरपि।।[1]

इसी प्रकार श्रीगङ्गारहस्य में दिये गये निर्देश आज भी प्रभावकारी हैं-

गंगां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्।
शौचमाचमनं केशं निर्माल्य मलघर्षणम्।।
गात्रसंवाहनं क्रीड़ां प्रतिगृहमधोरतिम्।
अन्यतीर्थरतिञ्चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम्।।
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारञ्च विशेषतः।।
नाभ्यङ्गितः प्रविशेच्च गङ्गायां न मलार्दितः।।[2]

जिस देश में गंगा की पवित्रता के प्रति जागरूकता हो उसके लिए आचार संहिता का निर्देश किया गया हो उसी देश में गंगा यमुना के शुद्धीकरण के लिए वैज्ञानिक संसाधनों की महती आवश्यकता हो यह नितान्त शोचनीय है। महानगरों में गंगा यमुना एवं अन्य नदियों की क्या स्थिति है यह किसी से छिपी नहीं है। जल के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। जल का स्थान औद्योगिक रासायनिक विषैली घातक गंदगी ने ले लिया है।

10वीं शती के प्रारम्भ में संस्कृत साहित्य में वर्णित नदियों के तट एवं नदियाँ पवित्र, स्वच्छ, मनोहारी एवं सुस्वास्थ्यकारी हुआ करती थीं। विविध जलचर पक्षीगण निर्द्वन्द्व विचरण करते थे। हंस के पंख यदि मालिन होते थे तो कमलों के रजः पुंज से, नदियों के जल यदि कसैले होते थे तो तटवर्ती वृक्षों के पीले पत्तें के झरने से-नलचम्पू में वर्णित गंगा नदी का चित्रण दर्शनीय है-

विकसितकनककमलकुवलयोच्छलितरजःपुंजपिंजरितहंसावतंसया प्रचुरचलच्चकोर-चक्रवाककारण्ड वमण्डलीमण्डिततीरया............ ....गंगयापुण्यसलिलः।।[3]

अर्थात् ग्यारहवीं शती में पवित्र जल वाली गंगा के जल में सुनहले, नीले, श्वेत एवं विभिन्न रंगों वाले कमल खिले रहते थे, उसके किनारे पराग कणों के ढेर से सुशोभित थे। हंस, चकोर, चक्रवाक, कारणवादि पक्षियों के झुण्डों से मुखरित रहती थी। किन्तु 20 वीं शती की गंगा कीचड़युक्त जानवरों से, कीचड़ जैसी गंदी हो गयी है, अब गंगा के कीचड़ से युक्त व्यक्ति अपने को किस जल से शुद्ध और पवित्र करें। अतः शुद्ध व पवित्र नर्मदा नदी की स्थिति बड़ी ही दुःखद एवं दयनीय है। आज अत्यधिक गदंगी के कारण नर्मदा नदी तो दुःखी है ही,

पुत्री की दुर्दशा से भारत माँ भी रोती है। नदी के जो किनारे विविध वृक्षों से हरे भरे छायादार रहते थे, जहाँ चंचल हिरन विहार करते थे, वहीं किनारे कीचड़ के बड़े-बड़े ढेरों से भर गये हैं। वहाँ सुगंध नहीं अब दुर्गंध फैली हुई है। ऐसी नर्मदा उसी प्रकार दु:खी है जैसे दुराचारी कीचक से त्रस्त होकर, असहाय होती हुई द्रौपदी व्यथित् हुई थी। ऐसी दु:खी नर्मदा की दशा देखकर भी धूर्त शासकों को दया नहीं आती वे उसे बचाने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। बीसवीं शती के कवि डॉ0 इच्छाराम द्विवेदी की दृष्टि में गंगा का वर्णन देखिए-

पंकिलै पशुभिः शुभे यं पिच्छलता गंगाकृता।
पापपंकं कुत्र गत्वा क्षालयिष्यामों वयम्।।[4]

आज नदियों के तटवर्ती वृक्षों, पादपों को ही नष्ट कर दिया गया हैं। गंगा, यमुना हों या रेवा (नर्मदा) सभी अपनी स्थितियों में विलाप कर रहीं हैं। इस सन्दर्भ में डॉ0 सी0 आर0 स्वामिनाथन की कुछ पंक्तियाँ विचारणीय हैं-

रेवा रोदिति, रोदिति दुहितरि, रोदिति, भारतमाता।
रोदिति जनता रेवा तटगा, रोदिति सज्जनहृदयम्।।
निबिडित बहुविधपादक हरिमा नष्टा सास्यसान्महिमा।
बिहरण लोलुप मृगगण योग्यं रेवाकूलं नैव स्यात्।।
तीरगतोऽयं कीचकगुल्मोऽप्याक्रन्दत्यतिकरूणम्।
कीचक दुर्मदवशगां दृष्ट्वा पांचालीमिवरेवाम्।।
रेवा रोदिति रोदिति दुहितरि रोदिति भारतमाता।
कोऽपि श्रुणोति न दयते कोऽपि न धिग्वोशासकधूर्ताः।।[5]

आज जब हम नदियों के किनारे से गुजरते हैं तो मिलती है सड़ांध भरी दुर्गन्ध। जल का स्वत्व खो गया है। इसका कारण बढ़ी हुयी जनसंख्या है। बढ़ती हुयी फैक्ट्ररियाँ या हम सबकी लापरवाही है। वस्तुत: यह अपनी संपत्ति एवं संस्कृति की घोर उपेक्षा है। यह इस बात का द्योतक है कि आज का मानव सैकड़ों वर्षों से पर्यावरण के प्रति सजग नहीं रहा। भौतिकवादी उपलब्धियों की प्राप्ति की लालसा में अपने प्राकृतिक संसाधनों की घोर उपेक्षा की गयी एवं उनका अनुचित संदोहन भी किया गया। संस्कृत साहित्य में निहित पर्यावरणीय विचारों पर भी ध्यान नहीं दिया गया, उन्हें मात्र अध्ययन अध्यापन का विषय मान लिया गया। यदि अब भी हमने संस्कृत साहित्य में निहित पर्यावरणीय संचेतना से शिक्षा नहीं ग्रहण की, उसके संस्कार आगे आने

वाली पीढ़ी को नहीं दिये, तो अवश्य ही और अधिक दुष्परिणाम सामने आयेंगे। हमारा अतीत हमारे वर्तमान की आधार शिला है। हमें पुनः अपनी अवधारणा बदलनी होगी। अपने प्राकृतिक-पर्यावरण की नितांत सारसंभाल करने की आवश्यकता है तभी हम सही अर्थ में 21वीं सदी का आनंद ले सकेंगे।

सप्तम् शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाकवि बाण के द्वारा किये गये 'विन्ध्याटवी वर्णन' के कुछ अंशों से भारत की विशाल वन सम्पदा का अनुमान लगाया जा सकता है।

''अस्तिपूर्वापरजलनिधिवेलावनलग्नामयदेशालंकारभूतामेखलेवभुवः ....अतिकठोरनारिकेल केतकीकरीरबकुलपतिगतप्रान्तैः...प्रावृडिवघान श्याम-लानेकशतह्रदालंकृताच.......क्वचितप्रलयवेले वमहावराहदंष्ट्रास-मुत्खातधरणिमण्डला वेत्रलताशतादुष्प्रवेशा क्रूरसत्वापि मुनिजनसेविता पुष्पवत्यपिपवित्राविन्ध्याटवीनाम्।''[6] अर्थात् मध्यप्रदेश में 'विन्ध्याटवी' नाम का विशाल वन है जो भारत के पूर्वी किनारे से पश्चिमी किनारे तक फैला है। नारियल, केतकी, करील, बकुल इत्यादि बहुविधि वृक्षों से सघन है। सैकड़ों विशाल सरोवर इस जंगल में स्थित हैं। बेंतकी लतायें इतनी घनी हैं कि जंगल में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसमें भयंकर जंगली जानवर रहते हैं फिर भी सहस्त्र मुनियों के द्वारा यह सेवित तथा पवित्र है।

किन्तु आज वनों के अत्यधिक दोहन से वन्य जीवों का अस्तित्व खतरे में है। पर्वतीय क्षेत्रों में वनों के कटाव से उपजाऊ मिट्टी की ऊपरी परत कट गयी है जिससे अनियंत्रित वर्षा एवं बाढ़ का खतरा बढ़ गया है। बड़े-बड़े कारखाने प्रदूषण नियंत्रण पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यद्यपि जल प्रदूषण एवं वायुप्रदूषण रोकने के प्रयास प्रशासनिक तौर पर किये जा रहे हैं। किन्तु वे प्रयास प्रदूषण की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं एवं सफल होते दृष्टिगत नहीं होते। वायु प्रदूषण से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं पौधे। उनकी वृद्धि में रूकावट होती है तथा पोषकता कम होती है, जिससे पौधों पर निर्भर रहने वाले जानवरों एवं मनुष्यों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है।

संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास की प्रकृति नाटक में अन्य मानवीय पात्रों की भाँति एक प्रमुख पात्र की भूमिका निभाती है। वृक्षों के पुष्पित होने पर आश्रम की बालाओं द्वारा पुत्रोत्सव की भाँति उत्सव मनाया जाता है, इससे वृक्षों के साथ बान्धव स्नेह प्रकट होता है। महर्षि

कण्व स्वयं पतिगृह जाती हुयी शकुन्तला के प्रति वृक्षों से अनुमति लेते हुये कहते हैं-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यिति जलं युष्माष्वपीतेषु या।
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः।
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सवैर्रनुज्ञायताम्।।[7]

इसके विपरीत आज धूलि धूसरित सड़कों के किनारे पेट्रोल का धुआँ लीलते निरे उपेक्षित वृक्ष इस बात को प्रकट करते हैं कि पर्यावरणीय संचेतना का कितना ह्वास हो चुका है। प्रदूषित पर्यावरण से क्षुब्ध कविरत्न श्री ओम प्रकाश ठाकुर की कुछ पंक्तियों में आधुनिक संस्कृत साहित्य की पर्यावरणीय संचेतना द्रष्टव्य है-

भो मित्र विपश्य महानगरे कथमत्र शोभया निवसामः।
जनसंकुलमार्गेष्वविरामं जन समुदायानथ निवहन्ति।।
स्कूर्दत्तरमोटरयानानि अहमहमिकया परिधावन्ति।
जलपवनदूषणैर्नगरगतं संदूषितमिह पर्यावरणं।।
क्वाचित्कैः कलहैः हिंसाभिः व्याकुलतामेति नगर हृदयं।
कुण्ठां स्वान्ते स्मितमपि वदनें निवहन्तः समयं गमयामः।।[8]

आज वायुमंडल के परिशोधन हेतु यज्ञीय अनुष्ठानों को स्वीकारने की अपेक्षा है। इसके लिए वैदिक यागादि क्रियाकलापों के ज्ञान के प्रसार की अपेक्षा है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन में यागादि का प्रशिक्षण वातावरण के परिशोधन में जितना सहायक होगा उतना ही व्यावसायिक शिक्षा में भी सहायक होगा। इस क्षेत्र में विद्यार्थियों की अभिरूचि जाग्रत करने की आवश्यकता है।

बाह्य वातावरण के कलुषित होने से मानव की अंतः प्रकृति कितनी दूषित हो रही हैं यह सर्वविदित है। अतः प्रकृति का प्रदूषण मनुष्य में अच्छे संस्कारों को विकसित नहीं होने देता जिससे चारों ओर भ्रष्टाचार फैलता है। मानव मन विकारयुक्त होता है। भ्रष्टाचार फैलने से समाज भ्रष्ट होता है, जिससे मानवता क्षतिग्रस्त होती है।

10वीं शती के समाज का चित्रण त्रिविक्रम भट्ट के शब्दों में देखिये-'**कूटप्रयोगों गीततान-विशेषेषु, न व्यवहारेषु, वृत्तिकलहो वैयाकरणच्छात्रेषु न स्वामिभृत्येषु, स्थानकभदकश्चित्रकेषु न सत्पुरूषेषु।**'[9] अर्थात् कूट प्रयोग संगीत में होता था, व्यवहार में

कुटिलता नहीं थी। वृत्ति सम्बन्धी वाद-विवाद व्याकरण के छात्रों में होता था। वेतन के लिए सेवक और स्वामी के बीच कलह नहीं होती थी। चित्रकला में स्थान भेद होता था। सज्जनों में स्थान भेद से सम्बन्धित विवाद नहीं होता था।

इसके विपरीत आज के समाज का चित्रण डॉ0 द्विवेदीजी के शब्दों में दर्शनीय है-

नित्यहत्यापराधोवरीवर्द्धते, क्रूरहिंसासमाजेदरीदृश्यते।
शान्तिसीता वराकी भृशंकम्पते, लोक विद्रावणो रावणो वर्धते।।[10]

अर्थात् आज के समय में सर्वत्र हत्या, अपराध एवं क्रूरता का आचरण बढ़ता जा रहा है। बेचारी सीता भय से काँपती है, रावणों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा स्थिति यह है कि एक हजार वर्षों के बीच समाज का इतना अध:पतन हुआ है।

वस्तुत: आज अपने समाज को सुधारने के लिए, पर्यावरण की सुरक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि आज शिक्षा नीति में सुधार किये जायें, प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक सभी स्तरों पर विद्यार्थियों को पर्यावरण के प्रति जागरूक किया जाय। उनमें ऐसे संस्कार उदबुद्ध किये जायें कि वे जीवन भर पर्यावरण को दूषित करने से अपने को तथा दूसरों को रोकें। उनमें स्वच्छ बौद्धिकता का निर्वहन हो तथा वे निर्मल मन वाले नागरिक बनकर भ्रष्ट समाज को परिवर्तित कर सकें। इस प्रकार दूषित पर्यावरण की शुद्धि के लिए जनमानस को तैयार करना होगा। स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि इसके लिए क्रान्तिकारी कदम उठाने की आवश्यकता है। धरा पर रहने वाला एक-एक मनुष्य जब इसकी ओर ध्यान देगा तभी स्थिति में सुधार सम्भव है।

वसुधा, मानवता एवं संस्कृति की चिरन्तन सुरक्षा का यही सर्वोत्तम उपाय है। वसुधा सदैव जीवन से परिपूर्ण हो, इसी मंगल कामना के साथ मैं अपने वक्तव्य को विश्राम देती हूँ-

भान्तु समस्ता हरितो हरिता:, वनराजि: कान्त्या सम्भरिता,
समये वर्षतु अम्बुदमाला, तृप्यतु पयसा धरा विशाला।
मधुसमय: समयास्तु निकामम्, उपवनजातं दलफलकान्तं,
जनचेतसि सुन्दरता सृष्टि:, समुदारा स्याज्जीवनदृष्टि:,
भात्वधराली मुखरितगाना, वसुधा भातु हरित परिधाना।।[11]

सन्दर्भ

1. पद्मपुराण 718198
2. श्रीगङ्गारहस्य-अध्याय 2
3. नलचम्पू (प्रथम उच्छ्वास)-त्रिविक्रम भट्ट
4. कर्दमक्लिन्नधरा-डॉ0 इच्छाराम द्विवेदी (अर्वाचीन संस्कृतम्, 15 अक्टूबर 93)
5. नर्मदाविलाप:-डॉ0 सी0आर0 स्वामीनाथन (सुरभारती-91)
6. कादम्बरीकथामुखम्-बाण
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (419)-कालिदास
8. महानगरजीवनम्-श्रीओमप्रकाशठाकुर (अर्वाचीन संस्कृतम्, अप्रैल 92)
9. नलचम्पू (प्रथम उच्छ्वास)-त्रिविक्रमभट्ट
10. पश्य बन्धोक्षणम्-डॉ0 इच्छाराम द्विवेदी (अर्वाचीन संस्कृतम्, अप्रैल 1991)
11. वसुधा भातु हरितपरिधाना-श्री ओमप्रकाश ठाकुर (अर्वाचीन संस्कृतम्, अप्रैल 92)

●

आयुर्वेद में जल

वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं के मध्य जल से संरक्षण तथा जल संवर्धन की समस्या अतीव चिन्ताजनक समस्या है। जल के प्रति वर्षों से किया गया उपेक्षित व्यवहार ही आज चिन्ता का कारण बना है। संस्कृत वाङ्मय में यदि हम विहंगम दृष्टि से ही अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि वैदिक काल से ही जल संरक्षण के प्रति हमारे ऋषि पूरी तरह जागरूक थे। वेद, पुराण, उपनिषद, आयुर्वेद इत्यादि सभी जल के संरक्षण, संवर्धन एवं जलशुद्धीकरण के प्रति अनेक प्रकार से चर्चा करते हैं, किन्तु अपनी संस्कृति एवं प्राचीन धरोहर के प्रति हमें उपेक्षापूर्ण व्यवहार पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से प्राप्त हुये हैं और हजारों वर्षों की उपेक्षा ने आज हमें विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। हम नदियों को सुरक्षित नही रख पाये, समुद्र को सुरक्षित नहीं रख पाये तथा पूरी पृथ्वी इतनी प्रदूषित कर दी गयी है कि जलीय जन्तु नष्ट होते जा रहे हैं। यदि इनके प्रति यही उपेक्षापूर्ण धारणा रही तो अवश्य ही एक दिन समस्त प्राणि जगत शुद्ध पेयजल की त्रासदी से ग्रस्त होगा।

पृथ्वी पर शुद्ध जल की कितनी अपेक्षा है, इसकी आवश्यकता के प्रति हजारों वर्षों पूर्व भी वैदिक ऋषि सजग थे एवं भावी पीढ़ी को अपेक्षित निर्देश भी दिये गये-'**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**'[1]। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि जलों में अमृत तत्व एवं आरोग्य तत्व हैं-"**आपो अस्मान्मातरः**"[2]। नदी, सागर, उत्स, वर्षा, प्रावृट एवं ऋतुओं के जितने सूक्ष्म एवं स्वाभाविक चित्रण हमें संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होते हैं वे कोरी कल्पना नहीं प्रत्युत तत्कालीन सूक्ष्मदृष्टि की ओर संकेत करते हैं। पुराणों में सर्वत्र गंगा, यमुना, नर्मदा इत्यादि नदियों के महात्म्य एवं उनकी पवित्रता के संरक्षण हेतु जो निर्देश दिये गये हैं, वह सभी नदियों के पावित्र्यवर्धन के लिए है। किन्तु हम पाश्चात्य रंग में इतने डूबे कि अपनी मान्यताओं को भूल गये, परिणाम स्वरूप आज नदियों की जो दुर्दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। नदियों के रूप पूरी तरह कालुष्य युक्त हो चुके हैं। 10वीं शती में प्राप्त ग्रन्थों में भी नदियों के तट हमें शुद्ध और पवित्र रूप में मिलते हैं-

"विकसितकनककमलकुवलयोच्छलितरजःपुंजपिंजरितहंसावतं-

सयाप्रचुरचलच्चकोरचक्रवाककारण्ड वमण्डलीमण्डिततीरया...... .... गंगयापुण्यसलिलः।।''[3]

किन्तु आज इसी गंगा के तट से गुजरते हुए हमें अपनी नाक बंद करनी पड़ती है। वस्तुतः यह अपनी ही संस्कृति की उपेक्षा है, जो यह इंगित करती है कि हम हजारों वर्ष तक 'जल' जैसे जीवनीय तत्व के प्रति कितने लापरवाह रहे। भौतिकवादी उपलब्धियों की चकाचौंध में मानव अपने जीवनोपयोगी तत्वों के प्रति कितना उदासीन रहा है। ये इस बात के जीवंत उदाहरण हैं।

जल का संवर्धन एवं संरक्षण हमारे लिए आज कितना उपयोगी एवं आवश्यक हो गया है, इस विषय पर आयुर्वेद के सम्पूज्य महर्षि चरक, धन्वन्तरि एवं सुश्रुत दिवोदास आदि आचार्यों के अभिमत आप सभी के समक्ष मैं प्रस्तुत कर रही हूँ। वस्तुतः वर्तमान समय में जलीय संदर्भ में वैज्ञानिक संसाधनों के साथ ही हमें अपने ऋषियों के द्वारा बताये गये उपायों पर भी पूरा ध्यान देना अपेक्षित है-

भगवान धन्वन्तरि ने अपने शिष्य सुश्रुत को आकाश से गिरने वाले जल को पथ्य एवं संग्राह्य बताया है-**''पानीयमन्तरिक्षम-निर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं श्रमक्लमपिपासा-मदमूर्च्छातन्द्रा निद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमञ्च''**।[4]

अन्तरिक्ष से गिरने वाला जल अव्यक्त रस अत्यल्प रसयुक्त अमृत के समान जीवन के लिए उपयोगी, तृप्तिकारक, शरीरधारक, आश्वास जनक तथा थकावट, ग्लानि, प्यास, मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा तथा दाह को शांत करने वाला तथा निश्चय रूप से सर्वावास्था में अत्यंत पथ्य होता है। महर्षि चरक ने भी आंतरिक्ष जल को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि इस जल में चूना तथा मैग्नीशियम के लवण नहीं होने से, अत्यन्त मृदु तथा आंत्रिक ज्वर विसूचिका आदि रोगोत्पादक जीवाणुओं से रहित होने के कारण स्वास्थ्य के लिए श्रेष्ठ है। पृथ्वी पर जल में अनेक पदार्थ घुल जाने से वह अंतरिक्ष जल से भिन्न गुणों वाला हो जाता है। चरक के मत में-

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
तत्पतत्पतितञ्चैव देशकालावपेक्षते।।
खात्पतत्सोमवाय्यकैः स्पृष्टं कालानुसारिभिः।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः।।[5]

वस्तुत: वैज्ञानिक जल को यौगिक मानते हैं तथा (H_2O) हाइड्रोजन के दो परमाणु एवं ऑक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से जल का एक अणु बना है। इस दृष्टि से आकाशीय जल तथा पृथ्वी का जल एक ही है, किन्तु पृथ्वी के जल में अनेक पदार्थ घुल जाने से वह अंतरिक्ष जल से भिन्न गुणों वाला हो जाता है।

आचार्य धन्वन्तरि के अनुसार उत्कर्ष तथा अपकर्ष के रूप से जो पृथ्वी आदि पंच महाभूतों का परस्पर प्रवेश होता है, उससे ही जल के मधुरादि भेद होते हैं। पृथ्वी के गुण अधिक होने पर अम्ल या लवण रस वाला होता है। जल के गुण अधिक होने पर मधुर रस, तेज का उत्कर्ष होने पर कटु और तिक्त रस, वायु के उत्कर्ष से कषाय रस, आकाश के उत्कर्ष से जल अव्यक्त रस वाला जल होता है, यही प्रधान है। आकाश से गिरता हुआ जल चार प्रकार का होता है।

तद्यथा-धारं, कारं, तौषारं, हैममिति। तेषाधारं प्रधानं, लघुत्वात्। तत्पुनर्द्विविधं-गाङ्गं सामुद्रं चेति।।[6]

धारा रूप में बरसने वाला जल हल्का होता है, इसके भी भेद हैं-गाङ्ग और सामुद्र।

गाङ्ग जल-आश्विन् मास में बरसने वाला जल गाङ्ग होता है। यह प्रधान है पीने योग्य होता है। इसे संरक्षित करने के लिए आचार्य धन्वन्तरि ने बड़ा ही सुन्दर उपाय बताया है-

शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युतमथवाहर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभि-र्भाजनैर्गृहीतंसौवर्णेराजतेमृन्मयेवापात्रेनिदध्यात्।। तत्सर्वकालह्मम-मुपयुञ्जीत् तस्यालामभौमम्।[7]

पवित्र तथा श्वेत वस्त्र को खुले मैदान में फैलाकर उसके एक प्रदेश में जल चुआकर शुद्ध पात्र में भर ले अथवा पक्के मकान की साफ छत से गिरा हुआ अथवा अन्य पात्रों में संचित कर फिर सोने, चाँदी या मिट्टी के बड़े पात्रों में रखना चाहिए। इस प्रकार सुरक्षित गाङ्ग जल को बारहों मास पीना चाहिए। इसके अभाव में भौम अर्थात् भूमि में प्राप्त जल का प्रयोग करना चाहिए।

भौम जल सात प्रकार का होता है जैसे कुँए का, नदी का, तालाब का, तड़ाग का, झरने का, पृथ्वी को फोड़कर निकला हुआ, चुण्टी अबन्धित का।

सामुद्र जल-गाङ्ग और समुद्र जल का भेद जानने के लिए आचार्य

धन्वन्तरि ने कहा है कि पानी बरसने के समय, अकुथित तथा अविदग्ध अर्थात् सड़ान रहित वर्ण विकार रहित शालिचावलों का पिण्ड बना के उसे चाँदी के पात्र में रखकर खुले आँगन में रख दें। बरसते पानी में 48 मिनट तक रखने के बाद यदि वैसा ही बना रहे तो समंझना चाहिए कि गाङ्ग जल बरस रहा है, यदि चावल का रंग बदल जाये, कोथ उत्पन्न हो जाये तो समझना चाहिए सामुद्र जल बरस रहा है। सामुद्र जल को पीने के कार्य में नहीं लेना चाहिए किन्तु आश्विन् मास में बरसने वाला सामुद्र जल भी दोष रहित होता है। हारीत संहिता में सामुद्र जल का लक्षण बताते हुये कहा गया है-

आविलं, समलं, नीलं धनं पीतमथापिवा।
साक्षरं पिच्छलञ्चैव सामुद्रं तन्निगद्यते।।[8]

डॉ0 अम्बिका दत्त शास्त्री ने उक्त चार प्रकार के जलों का विमर्श करते हुए कहा है-

धाराभिः पततीति धारम्.........। कारं-वर्षोपलोद्भवम्। तौषारम्-आन्तरिक्ष। जल निचय जातम्, हैमं स्फटिकशिला शकल सदृश हिमोद्भवम्।

विविध ऋतुओं में 'जल का सेवन' के निर्देश-आचार्य सुश्रुत के अनुसार वर्षाकाल में आन्तरिक्ष या औद्भिद् जल को अधिक गुण युक्त होने से सेवन करना चाहिए।

'शरदि सर्वप्रसन्नत्वात् हेमन्ते सारसं ताडागं वा बसन्तेकौपं प्रास्तवं वा। ग्रीष्मेऽप्येवम् प्रावृषि चौण्ट्यमनभिवृष्टं सर्वञ्चैवेति।'[9]

शरद ऋतु में अगस्त्यौदय से सभी जल निर्मल एवं सेवनीय हो जाते हैं। हेमन्त में सरोवर का, बसंत में कुएँ या झरने का पानी पीना चाहिए, ग्रीष्म में भी यही जल पेय है। प्रावृट् में वर्षा से अदूषित जल सेवनीय है।

त्याज्य जल-विषैले कीड़ों के मूत्र, मल, अण्डे तथा सड़े-गले किसी भी प्राणी के मुर्दों से दूषित जल, घास-पत्ते, कूड़े से युक्त जल न तो स्नान करने योग्य है और न पीने के योग्य है। ऐसे जल को पीने से या स्नान करने से व्यक्ति फोड़े, फुंसी, अतिसार तथा कृमि आदि रोगों से पीड़ित होता है। बेमौसम में बरसे जल को नहीं पीना चाहिए। वह अहितकर होता है।

नदीय जल की विशेषतायें-पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली नदी का जल पथ्यकर है। पूर्वाभिमुखी नदियों का जल भारी होने से

प्रशस्त नहीं हैं। दक्षिणामुखी नदियों का जल साधारण होने से दोषकारक नहीं है। सह्य पर्वत, विन्ध्य पर्वत से निकली नदियों का जल त्वग् रोग कारक है। मलयाचल से निकली नदियों का जल, अवन्ती से निकली नदियों का जल भी पथ्यकर नहीं है। पारियात्र से निकली नदियों का पानी पथ्य, बल दायक और नीरोग देने वाला है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिन नदियों का पानी तेज बहता है, वह निर्मल जल अति हितकर है, हल्का है, जो कोई सिवार से आच्छन्न हो, मन्द गति वाली हो उनका पानी भारी होता है-

नद्यः शीघ्रवहालघ्वयः प्रोक्ता याश्चमलोदकाः।
गुर्व्यः शैवालसंच्छन्नाः कलुषाः मन्दगाश्च याः।।[10]

सभी प्रकार के भौम जलों को सूर्योदय से पूर्व ग्रहण करना चाहिए। यह निर्मल एवं शीतल होने से श्रेष्ठ गुणों से युक्त होता है।

तत्र वर्षास्वोषधयस्तरूण्योऽल्पवीर्यो आपश्चाप्रसन्नाः। क्षितिमलप्रायाः। ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावर्तते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां। प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तञ्चापादयन्ति।[11]

वर्षा ऋतु में जल पृथिवी के मल (सड़े-गले पदार्थों) से युक्त होने के कारण अप्रसन्न (कलुषित) होता है।

हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रसन्नाः स्निग्धाः अत्यर्थं गुर्व्यश्च।

हेमन्त ऋतु में जल निर्मल स्निग्ध अत्यन्त भारी हो जाता है।

निदाधे निस्सारा सक्ष्य अतिमात्रं लब्ध्यो भवन्त्यापश्च।
प्रावृष्टि चात्यर्थ जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्न देहाना।
प्राणिनां शीतवात वर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति।।
अव्यापन्नेषु ऋतुषु अव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च।
ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्बलवीर्योजस्कर्यो भवन्ति।।

स्वाभाविक ऋतुओं में औषधियाँ तथा जल भी अदूषित रहते हैं, प्राणशक्ति, आयु, बल, वीर्य और ओजवर्धक होता है।

शीत, उष्ण, वायु और वर्षा वैपरीत्य औषधियों और जल को बिगाड़ देता है, जिनके सेवन से अनेक प्रकार के रोगों का प्रादुर्भाव भी होता है। ऋतुओं की विकृति से अदूषित औषधियों तथा जल का उपयोग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आन्तरिक्ष तुल्य गुणों वाले जल की विशेषता बताते हुये आचार्य सुश्रुत ने कहा है-

दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिमिः।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना।।
गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षिः ततः परम्।।[12]

जो जल दिन में सूर्य की किरणों से तथा रात में चन्द्रमा की किरणों से स्पष्ट होता है एवं रूक्षता से रहित हो वह गगनाम्बुतुल्य गुणों वाला होता है। अच्छे पात्र में इकट्ठा किया हुआ आंतरिक्ष जल त्रिदोषनाशक, बलवर्द्धक रसायन और मेधा शक्तिवर्धक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे पात्र में जल संचित हो वैसे ही गुण दोष से युक्त होता है। जल के गुण दोष पात्रापेक्षी होते हैं। इसके अतिरिक्त दूषित जल के प्रयोग से होने वाले विविध विकारों का भी वर्णन किया है।

जल शोधन के विविध उपाय-जल को उबालना, सूर्य की धूप से खूब तपाना, तपे हुये लोहे के पिण्ड, बालू या ईंट के पिण्ड से पानी बुझाना आदि प्रयोग बताये गये हैं। इसके साथ ही स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि सोने, चाँदी, ताम्र, कांस और मणि से बने पात्र अथवा मिट्टी से बने पात्र में पुष्पाधिवासित जल को रखकर पीना चाहिए। आज पेय जल का प्रयोग अधिकांशतः प्लास्टिक के पात्र में किया जाता है, जो सर्वथा अनुचित है।

कलुषित जल को शुद्ध करने के लिए सात वस्तुयें हैं जैसे निर्मली के फल, गोमेदमणि, कमल नाल, शैवालमूल, वस्त्र से छानना, मुक्ताप्रक्षेप तथा स्फटिक प्रक्षेप।

जल पात्र रखने के पाँच साधन हैं-फलक (चौकी), त्रिपादिका (स्टूल), मूंजका घेरा, उदक मञ्चिका और शिक्य (छीका)।

उबले जल को ठण्डा करने की सात विधियाँ भी बतायी गयी हैं। वायु में जल पात्र को रखना, जल पात्र पर बाह्य पृष्ठ की ओर ठण्डे पानी की धार छोड़ना, लकड़ी से पानी हिलाना, पंखे की हवा करना, शीतल जल से भीगा कपड़ा रखना, जल में रेत छोड़ना, रेत में जलपात्र को गाड़ना, जल पात्र को छीके पर रखना। इस प्रकार पेय जल की शुद्धता बताते हुये सुश्रुत ने कहा है-

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं तोयं गुणवदुच्यते।।[13]

जो जल गन्ध रहित, मधुरादि रस जिसमें व्यक्त न हो, तृष्णा मिटाने वाला शुद्ध, शीतल, स्वच्छ, हल्का तथा हृदय या मन में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला है, वह जल अच्छे गुणों वाला कहा गया है।

वस्तुत: जल के संरक्षण एवं संवर्धन के उक्त महनीय उपयोगी उपाय ईसा के जन्म से भी 2000 वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों ने निर्देशित किये थे, लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि उक्त आचार्यों, उनके ग्रन्थों एवं उनके निर्देशों की घोर उपेक्षा की गयी, उस पर ध्यान नहीं दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप आज जल के संरक्षण हेतु हमें कोई उपाय सुलभ नहीं हो रहा। आज पुन: आवश्यकता है कि हम आयुर्वेदीय निर्देशों का पालन करें तथा जलसंवर्धन हेतु इन उपायों को ग्रहण करें जिससे बंद बोतलों में पानी खरीद कर पीने की व्यथा का निवारण हो सके। किसी का अन्धानुकरण न करते हुये अपनी संस्कृति के प्रति आस्था रखें। प्राचीन एवं नवीन उपायों का मञ्जुल सामंजस्य हमारे जीवनाधायक तत्वों का अवश्यमेव संरक्षण करेगा। अथर्ववेद का यह मंत्र हमें जल संरक्षण का संदेश देते हैं-

शं ते आपौ हैमवती: शुभं ते सन्तूत्सया:।
शं ते सनिष्यंदा आप: शुभते सन्तु वर्ष्या:।।
शं ते आपो धन्वन्या शं ते सन्त्वनृष्या:।
शं ते खनित्रमा: आप: शं या कुम्भेमिरामृता:।।[14]

हे मनुष्य! तेरे लिये पहाड़ों से उत्पन्न, कुओं से निकाले गये, शीघ्र बहने वाले एवं वर्षा से उत्पन्न जल शान्तिदायी हों, तेरे लिये निर्जल देश के जल सजला देश के जल सुखदायी हों। तेरे लिए खनन् द्वारा निकाले गये जल और घड़ों में रखे जल सुखदायी हों।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 9।16
2. ऋग्वेद 4।12
3. नलचम्पू-प्रथम उच्छ्वास
4. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45
5. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45, पृ0 169
6. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45, पृ0 169
7. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।22, 25, 26

8. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।22, 25, 26
9. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।22, 25, 26
10. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।20
11. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।20
12. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।20
13. सुश्रुतसंहिता, अध्याय 2, अध्याय 45।20
14. अथर्ववेद 19।21।1, 2

संस्कृत वाङ्मय में जल-विज्ञान

प्राणियों के लिए जीवनधायक प्राकृतिक तत्वों में जल का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान काल में भौतिक विकास का दम्भ करने वाले मानव ने वस्तुतः भौतिक निधियों का निरन्तर क्षय किया है। निरन्तर वृक्षों की कटाई, नदियों में औद्योगिक अपशिष्टों का प्रवाह तथा प्रदूषित वस्तुओं के प्रवाह से शुद्ध जल का निरन्तर अभाव होता जा रहा है। इसके साथ ही यज्ञीय क्रियाओं को अन्धविश्वास मानकर उनका तिरस्कार करने से जल संवर्धन की भी उपेक्षा हो रही है, जिससे पृथ्वी पर स्थित रासायनिक कारकों से एवं दूषित पदार्थों के सम्पर्क से अवाञ्छित तत्व जल में मिलकर उसे विकृत कर रहे हैं और प्राणियों के लिए पेयजल संकट उत्पन्न कर रहे हैं।

जलीय समस्याओं के निराकरण हेतु यदि हम संस्कृत वाङ्मय का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ऋषि जल संवर्धन एवं जल संरक्षण हेतु पूरी तरह सजग थे। उन्होंने जल की महत्ता को स्वीकार करते हुये यज्ञ जैसी वैज्ञानिक पद्धति को नित्यकर्म के रूप में ग्रहण किया था तथा जल संरक्षण हेतु पूरी आचार संहिता तैयार कर रखी थी। इसके उदाहरण हमें वैदिक वाङ्मय, पुराणों, स्मृतियों, वृहत्संहिता तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। जल संवर्धन एवं जल संरक्षण हेतु बहुशः निर्देश दिये जाने पर भी आज का मानव पेयजल संकट से त्रस्त हो रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक नहीं किया गया। उसे आचरण में नहीं संस्कारित किया गया। सैकड़ों वर्षों की उपेक्षा का परिणाम आज हमारे सामने है। आज संस्कृत वाङ्मय के पुनः वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने की अपेक्षा है, जिससे हम सामयिक समस्याओं का समाधान खोज सकें। प्रस्तुत शोध-पत्र में मैंने जल संवर्धन एवं जल संरक्षण की समस्याओं के समाधान खोजने का प्रयास किया है।

दूषित हो रहे पानी का शुद्ध करना आज प्रत्येक मनुष्य का दायित्व हैं। क्योंकि वायरस से दूषित जल के प्रयोग से 60 प्रतिशत लोग बीमार पड़ते हैं। पोलियो एवं पीलिया रोग इसी प्रदूषित जल की देन है। वायरस की वैक्टीरिया, प्रोटोनोन्स और वर्म्स कई तरीकों से नुकसान पहुँचाते हैं। आँतों पर हमला कर डायरिया को जन्म देते हैं। बुखार, लीवर, रक्तस्राव और शरीर के द्रव्य में अवरोध सदृश व्याधियाँ देते हैं। आज के विज्ञान

के अनुसार हाइड्रोजन के 2 मौलिक्यूल तथा ऑक्सीजन गैस का एक मौलिक्यूल जब मिलता है तब वह कुछ उष्णता की विद्युत पद्धति से प्राप्त कर लेने पर पानी में बदल जाता है। स्व0 पं0 गुरूदत्त ने एक मंत्र का अर्थ करके यह ज्ञान वेद में विद्यमान बताया है-

मित्रं हुवे पूत दक्षं वरूणं च रिशादसम्।
घियं घृताचीम् साधन्ता।[1]

निरूक्त (5।4।13) के अनुसार-'डुमि प्रक्षेपणे धातोः त्रप्रत्यय योगात् व्युत्पन्नरय मित्रशब्दस्यार्थः निरूक्तकारेण अन्तरिक्षे प्रक्षिपति द्रवति उदकमिति कृतः' जो वायु सूर्य के द्वारा ग्रहण की गयी भौमरस के वाष्पीभूत जलकणों को अन्तरिक्ष में प्रसारित करती है वह मित्र है, एवं जो वायु उन जलकणों को बलपूर्वक रोककर अन्तरिक्ष में स्थगित (उपष्टम्भित) करती है वह वरूण है। उक्त मंत्र का निर्वचन करते हुये पं0 गुरूदत्त ने मित्र का अर्थ ऑक्सीजन तथा वरूण का अर्थ हाइड्रोजन किया है उनके अनुसार वैदिक वाङ्मय में मित्र और वरूण शब्द ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के लिए प्रयुक्त हुये हैं। यह गैसें अन्तरिक्ष और द्यु लोक में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। यज्ञ द्वारा जहाँ मेघ न हो वहाँ भी वर्षा कराना इन्हीं दोनों गैसों के समीकरण की संभावना से ही संभव है।

1. जल संवर्धन

यजुर्वेद में जल संवर्धन हेतु 'निकामे निकामे नः पर्जनयो अभिवर्षतु' अर्थात् जैसे-जैसे कामना या अनुष्ठान किया जाय जल वर्षाया जा सके। गीता में भी 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' कहा गया है। यज्ञ से बादल तैयार होता है। सूर्य के ताप से पृथ्वी का जल वाष्प बनकर इतस्ततः ले जाया जाता है और वह घनीभूत वाष्प ही मेघ संज्ञा धारण कर वर्षा बनकर बरस पड़ती है। वस्तुतः यज्ञ वह पद्धति है जिसमें मानवीय प्रयत्नों से जल प्राप्त किया जा सकता है इसमें अग्नि प्रदत्त ताप माध्यम का काम करता है।

यज्ञ द्वारा वर्षा कराने में दो प्रकार की सम्भावना है-

(1) जहाँ मेघादि में उन्हें जमाने (Condensation) पर बाध्य करना।

(2) जहाँ जल न हो, वहाँ पहले जल उत्पन्न करना फिर उसे बरसाना। अंतरिक्ष और द्यु लोक में खनन क्रिया अग्नि और वायु के संयोग से की जाती है।

'मरूद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथ्वीमनु।'[2]

यज्ञ में डाला शाकल्य जलता है। वाष्प लिये हुये उत्पन्न धूम्र यज्ञवेदी के मध्य भाग में लम्ब रूप में स्थित होता है। बार-बार आहुति देने से खनन क्रिया उत्तरोत्तर ऊपर बढ़ती जाती है। जैसे पृथ्वी के नीचे दबे जल को प्राप्त करने हेतु बोरिंग होती है उसी प्रकार पोले आकाश में यज्ञ धूम्र बोरिंग का काम करता है। आग्नेय तथा शीत तत्वों के प्रसारण से अन्तरिक्ष में वायु की विभिन्न प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं। तप्त वायु उष्ण होकर ऊर्ध्व गति वाला होता है इससे एक प्रकार का वायु कूप सा बन जाता है। अंतरिक्ष में प्रविष्ट यह उष्ण वायु अपने समीप के जलों का शोषण करती जाती है।

आ याहि सोम पीयते स्पार्हो देव नियुत्वता।[3]

यज्ञ द्वारा प्रेरित वायु सूक्ष्म जल रस सोम को संग्रह करता जाता है। यज्ञ में निर्मित पदार्थ की सुगन्धित वाष्प ऊपर जाकर Nucleus का काम करती है जिसमें अन्तरिक्षस्थ वाष्प प्रचुरता से आ मिलती है। वनस्पतियों से आर्द्रता और सूक्ष्मकण दोनों उठाकर ऊपर जाते हैं? वाष्प तो और वाष्प एकत्रित करती है और कणों पर यह वाष्प ताप गिरने पर जम जाती है।

अद्रिरसि वानस्पत्यः।[4]
दैवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो।
मधुशारवः सुपिप्पलो देवमिन्द्र मवर्धयत्।[5]

द्यु लोक अंतरिक्ष से ऊपर है, वहाँ जल नहीं है पर वहाँ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन अवश्य है जिससे जल बनता है। यज्ञ द्वारा उन्हें जल रूप में बदलना संभव होता है, जिसके संकेत यजु0 के 1।25 'वर्षतु तेद्यौः' तथा सामवेद में 'वृष्टिः दिवः परिस्रवः' में है। यजुर्वेद में 23।48 में कहा गया है-'द्यौः समुद्र समः सरः'। यास्क ने द्यु लोक में स्थित सागर को उपरि समुद्र तथा पृथ्वी पर स्थित सागर को अधः समुद्र कहा है।

द्यु के लिए नभो मण्डल शब्द भी प्रयुक्त हुआ है-

सं बर्हिरक्तां हबिषा घृतेन,
समादित्यैर्वसुमिः सम्मरूद्भिः।
समिन्द्रो विश्व देवेभिरङ्क्तां,
दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहा।।[6]

सुगंधियुक्त वनस्पति और घृताहुति के यज्ञ का धूम बारहों महीने अग्नि और वायु के साथ रासायनिक प्रक्रिया करता है और सूर्य लोक को पहुँचाता है, तब नभो मण्डल द्युः को क्रियाशील करता है।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्यवरीयताम् पृंचतीर्मधुनापयः।[7]

जल धारायें यज्ञ के कारण मधुरता से युक्त हुई हैं।

असूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। तानो हिन्वन्त्वध्वरम्।[8]

ये जल धारायें सूर्य के पास थीं हम ले आये।[8]

मित्रावरूणौ त्वा वृष्ट्यावताम्।
व्यन्तु वयोक्त रिहाणा मरूती पृषतीर्गच्छ।
वशापृश्निर्भूत्वो दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह।।[9]

मित्र वरूण जल के तत्व हैं, जैसे पक्षी अपने लिए घोंसला रचकर प्रतिदिन उसे प्राप्त करते हैं वैसे ही यज्ञ की आहुति द्यु लोक में जाकर इन्हें स्थापित करती हैं।

डॉ0 रामेश्वर दयाल गुप्ता ने 'वैदिक वाङ्मय में विज्ञान' नामक ग्रन्थ में वैज्ञानिक ढंग से मंत्रों के अर्थ स्पष्ट करते हुये 'वृष्टि' का वर्णन किया है। वैदिक ऋषियों को ऐसे शाकल्य भी ज्ञात हैं जो बादलों को दूर फेंककर अति वृष्टि रोक दें।

आज का युग वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षण का युग है। अतः वैदिक ज्ञान का भी परीक्षण करते हुये जल संवर्धन का लाभ उठाना चाहिए। आर्य समाज के विद्वान श्री वीरसेन वेदश्रमी, इंदौर ने यज्ञ द्वारा वर्षा करने का परीक्षण दिल्ली में 4 से 15 जून 1961 में, अजमेर में 26 से 31 जुलाई सन् 1964 में एवं राजकोट में 5 से 6 जून सन् 1966 में किया तथा ये परीक्षण सफल भी हुये थे।

इन परीक्षणों से प्राप्त श्री वेदश्रमी जी के महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं जो विचारणीय हैं-

(1) जलीय वाष्प न्यून होने पर यज्ञ करने से जलीय तत्व की वृद्धि होती है जिससे बादलों का निर्माण होता है।

(2) बारम्बार जलीय वाष्प को अंतरिक्ष में आत्मसात् करने के उपरान्त ही अंतरिक्ष में समुद्र का उद्भव होता है, जिससे बादल यज्ञीय आहुति के प्रभाव से स्थूल भाव लेकर भार रूप एवं शीतलता को प्राप्त कर वर्षा करने की स्थिति में हो जाते हैं।

अंतरिक्ष में जलीय गर्भ का धारण, पोषण, पुष्ट और प्रसव कराने में घृत सर्वाधिक समर्थ है। घृत के अतिरिक्त दूध, दही आदि द्रव पदार्थ आर्द्र, द्रव्य, स्नेह युक्त हविद्रव्य, अन्नादि, वनस्पति इनका धूम मेघ निर्माण में तथा वर्षा कराने में परम सहायक है। यदि एक सहस्त्र नारियल के गोलों में घृत, शक्कर, शहद, मेवा, खीर, हलुवा, मावा, तिल, जौ आदि पदार्थों को भरकर उनको यज्ञवेदी में अग्नि को वृष्टि की कामना के साथ समर्पित किया जाय और उच्च स्वर से 'ॐ स्वाहा' की सम्मिलित रूप से बार-बार ध्वनि की जाय तो वर्षा ऋतु में शीघ्र वर्षा होगी। मेघ नहीं होंगे तो शीघ्र उत्पन्न होंगे और वर्षा एक-दो दिन में होगी।

'वैदिक यज्ञों द्वारा वृष्टि परीक्षण' 12 फरवरी 1976 में भारत सरकार की 'इन्डियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' की बैठक डॉ0 एम0एस0 स्वामीनाथन की अध्यक्षता में हुयी थी जिसमें डॉ0 डी0आर0 मुम्बला, पं0वीरसेन वेदश्रमी, पं0 ब्रह्मानंद त्रिपाठी, डॉ0 जी0एस0आर0 कृष्णामूर्ति, डॉ0 ए0पी0 मिश्रा, डॉ0 डी0सिंह, डॉ0 सी0एल0 रंगनाथन, डॉ0 पी0एन0 सक्सेना भी उपस्थित थे। इस विषय योजना का प्रारूप भी बनाया गया था किन्तु सन् 1977 के इमरजेंसी के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ़ सका था। अतएव आज पुनः इस ओर ध्यान देने की एवं क्रियान्वयन की महती आवश्यकता है। यदि समाज के सम्मुख यज्ञ की वैज्ञानिकता को समझाया जाय, इसकी भ्रान्तियों को दूर किया जाय तो यज्ञीय प्रक्रिया से जल संवर्धन के लिए उपाय किये जा सकते हैं।

2. जल संरक्षण

जल संवर्धन के साथ ही प्राप्त हुये जल के संरक्षण हेतु भी हमें आचार संहिता प्राप्त होती है कि नदियों के जल में किन-किन वस्तुओं का परित्याग नहीं करना चाहिए, यदि उसका पालन जनता द्वारा किया जाय तो नदियों के शुद्धीकरण में सहायता मिल सकती है। इसके लिए नियम विरूद्ध आचरण में कठोर दण्ड व्यवस्था भी लागू कर देना चाहिए।

आज नदियों का रंग बदल गया है, जलीय जन्तु नष्ट होते जा रहे हैं, नदियों के पास नाक बंदकर जाना पड़ता है, इस ओर जन जागृति लाने की अपेक्षा है तथा औद्योगिक अपशिष्टों के प्रवाह तथा सीवेज को नदियों में प्रवाहित करने पर कठोर नियंत्रण की अपेक्षा है।

जल संरक्षण हेतु संस्कृत साहित्य में धर्मशास्त्रों में नैत्यिक विधान बताये गये हैं। प्राकृतिक तत्वों के प्रति स्वदायित्व के पालन से मनुष्य

उनको संरक्षित कर सकता है। इस सन्दर्भ में पदम् पुराण, मनुस्मृति, विदुर नीति, चाणक्यनीति इत्यादि ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि मल, मूल, थूक एवं अन्य दूषित अपवित्र वस्तुओं का प्रवाह, विसर्जन नदियों में नहीं करना चाहिए।

नाप्सु विण्यमूत्रमाचरेत्,
नोत्तरे दनुपस्पृश्य नाप्सु रेतः समुत्सृजेत्।
अमेध्यालिप्तमहँ वा लोहितं वा विषाणि वा।।[10]

मनुस्मृति के अनुसार-

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमनयद्वालोहितं वा विषाणिवा।।[11]

इतना निर्देश देने पर भी आज का मनुष्य सार्वजनिक जल स्थानों में अपवित्र वस्तुओं का विसर्जन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। औद्योगिक अपशिष्टों का प्रवाह भी निरंतर होता रहता है। इन पर प्रशासनिक एवं सार्वजनिक प्रकार से रोक लगाने की महती आवश्यकता है।

वृहत्संहिता में प्रसादलक्षणाध्याय में आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है:-

सरः सु नलिनीछत्र निरस्तरविरश्मिषु।
हंसांसाक्षिप्त कह्लारबीथीविमलवारिषु।।
हंसकारण्डवक्रौञ्चचक्रवाकविराविषु।
पर्यन्त निचुलच्छाया विप्रान्तजलचारिषु।।[12]

अर्थात् जिस सरोवर में कमल छत्र से सूर्य किरण दूर किये गये हों, हंसों के कन्धों से प्रेरित श्वेत कमलों से बने हुये मार्गों में निर्मल जल हो, जहाँ हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाक शब्द कर रहे हों, निचुल वृक्षों की छाया में जीव विश्राम कर रहें हों, ऐसे सरोवर में देवता निवास करते हैं।

वस्तुतः ये कथन बड़े ही सार गर्भित हैं। जल के संरक्षण की वैज्ञानिक विधा है। दिव्य शक्तियुत होने का कथन करना ये संकेत करता है कि हम जल स्रोतों से दूषित और अपवित्र वस्तुओं को सदैव दूर रखें। वृहत्संहिता में वापी के निकट लगाये जाने वाले निचुल, जामुन वेंत, नीप (कदम्ब), अर्जुन, बड़, आम, पिलखन, बकुल, कुरबक, तार, अशोक, महुआ तथा मौलसरी इत्यादि वृक्षों का उल्लेख किया गया है।

ये वृक्ष पर्यावरण के शोधन में सहायक हैं। किस वृक्ष से कितनी दूरी पर एवं कितनी गहराई पर जल का स्रोत पृथ्वी के अन्दर स्थित है इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है, यह वर्णन संस्कृत वाङ्मय में निहित वैज्ञानिक तथ्यों का बोध कराता है।

जो जल गन्दा, कड़ुआ, खारा, बेस्वाद या दुर्गन्ध वाला हो उसे संशोधित करके निर्मल, मधुर, सुन्दर गंधवाला और अनेक गुणों वाला करने के लिए भी आचार्य वराहमिहिर ने उपाय बताये हैं-

अञ्जनमुस्तोशीरेः शराजकोशातकामलकचूर्णेः,
कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः।[13]
कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वाशुभगन्धि भवेत्,
तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धिगुणैरपरैश्च युतम्।।[14]

अञ्जन, मोथा, खस, राजकोशातक, आँवला एवं कतक का फल इन सबका चूर्ण कूप में जलशोधन हेतु डालें।

जल ज्ञान के लिए आचार्य ने दकार्गल नामक अध्याय में वृहत्संहिता में अनेकानेक उपयोगी बातें बतायी हैं।

जल संरक्षण सम्बन्धी निर्देश सार्वजनिक स्थानों पर लगाये जायें। स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रमों में रखकर बच्चों को संस्कारित किया जाये। इन अनुदेशों का पालन न करने पर दण्ड विधान किये जायें। आज जल में संरक्षण हेतु जन चेतना जागृत करने की अपेक्षा है अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब पृथ्वी पर जल के स्वरूप पर ही प्रश्न चिन्ह लग जायेगा। जल तो स्वतः शोधक और पवित्र है। जल संरक्षण हेतु जलीय जन्तुओं , जलीय वनस्पतियों का संरक्षण भी अपेक्षित है ताकि हमारा पर्यावरण संतुलित रह सके। संस्कृत वाङ्मय में उक्त समस्याओं के निराकरण हेतु विस्तारपूर्वक समाधानों के निर्देश किये गये हैं। आवश्यकता है कि आज के संस्कृतज्ञ विद्वान् उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयास करें। जल संशोधन हेतु आधुनिक उपकरणों के प्रयोग के साथ ही हम अपनी प्राचीन विरासत की वैज्ञानिकता को भी ग्रहण करें तो अवश्यमेव जल संवर्धन एवं जल संरक्षण की समस्या का समाधान शीघ्र हो सकेगा।

शं ते आपो हैमवतीः शुभ ते सन्तूत्सयाः,
शं ते संनिष्यंदा आपः, शमुते सन्तु वर्ष्याः।[15]
शं ते आपो धन्वन्या, शं ते सन्तु अनृष्याः,
शं ते खनित्रिमा आपः, शं या कुम्भेभिराभृताः।।[16]

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 1।2।7
2. अथर्ववेद 4।15।7
3. यजुर्वेद 27।30
4. यजुर्वेद 1।14
5. यजुर्वेद 28।20
6. यजुर्वेद 2।22
7. ऋग्वेद 1।23।17
8. ऋग्वेद 1।23।17
9. यजुर्वेद 7।16
10. पद्मपुराण 55।65
11. मनुस्मृति 5।56
12. वृहत्संहिता-प्रसादाध्याय
13. वृहत्संहिता-दकार्गलाध्याय 121
14. वृहत्संहिता-दकार्गलाध्याय 122
15. अथर्ववेद 19।2।1
16. अथर्ववेद 19।2।2

●

वर्तमान समस्याओं का समाधान
(संस्कृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में)

संस्कृत साहित्य सार्वकालिक, सार्वदेशिक, शाश्वत एवं नित्य नवीन अर्थों को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है। युगानुरूप समस्याओं के समाधान की इसकी अद्भुत क्षमता है। राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक कैसी भी समस्या हो, उसके निराकरण की सामर्थ्य संस्कृत साहित्य में संचित है। यदि कहीं कमी है तो वह हमारे चिन्तन में क्योंकि अभी तक हम इस वाङ्मय में निहित रहस्यों को समग्र रूप में समझ नहीं पाये हैं।

वैदिक काल से लेकर आज तक के उपलब्ध वाङ्मय में कुछ भी ऐसा नहीं जिसे हम निरूपयोगी कहकर नकार सकें। आज वेदों, पुराणों एवं महाकाव्यों में निहित तथ्यों को समझ कर उनके गूढरहस्यों को प्रकट करने की परम आवश्यकता है। संस्कृत वाङ्मय में निहित रहस्यों को समझना आज के युग की अपेक्षा है।

हम जिस युग में जी रहे हैं वह युग अनेकानेक विकट समस्याओं से घिरा युग है। बाह्यप्रकृति एवं अन्त: प्रकृति दोनों के दूषित होने पर हमारा पर्यावरण ही हमारे लिये घातक हो रहा है। दूषित पर्यावरण में जीवनयापन करने वालों में भ्रष्टाचार का पनपना स्वाभाविक है। भ्रष्टाचार से पूरा लोकतंत्र व्याप्त है, समाज पीड़ित है, राष्ट्र स्तब्ध है, कविता क्रन्दन कर रही है किन्तु उसके निराकरण के लिए अपनाये गये सारे प्रयास विफल होते दीखते हैं। इसके मूल में निहित है बेरोजगारी की समस्या। आर्थिक परेशानियों से आहत क्षुधित तन-मन आखिर कब तक आदर्शों एवं ईमानदारी की चादर ओढ़े रह सकता है। इन समस्याओं के निराकरण के लिए जब तक सक्रिय गुणात्मक सुधार नहीं किये जायेगें, हमारा समाज और अधिक पतित होता जायेगा।

समस्याओं के समाधान के लिये केवल विज्ञान से अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके लिए हमें अपनी संस्कृति की सहभागिता परम् आवश्यक है। विज्ञान एवं संस्कृति का समन्वय हमारी समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है। आज मूलभूत समस्याओं में प्रमुख समस्यायें हैं-(1) पर्यावरण प्रदूषण, (2) भ्रष्टाचार उन्मूलन एवं (3) बेरोजगारी की समस्या।

आज प्रदूषण का प्रकोप सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यह विविध रूपों को धारण कर बाह्य प्रकृति में तो घातक हो ही रहा है, अन्तः प्रकृति को भी रूग्ण कर रहा है। इस पर गंभीरता से क्रियात्मक कदम उठाये जाने की आवश्यकता है। शुद्ध पर्यावरण के प्रति हमारे पूर्वज सदैव सचेत रहे हैं। संस्कृत साहित्य में नदी, पर्वत, सागर, प्रातः, सायं, दिन एवं रात्रि के जितने सुन्दर एवं मनोरम दृश्य वर्णित हैं, वह कोरी कल्पना नहीं प्रत्युत तत्कालीन पर्यावरण के प्रति संचेतना को प्रकट करते हैं। यदि उस समय पर्यावरणीय संचेतना नहीं होती तो तत्कालीन प्राकृतिक परिवेश मालिन्य से युक्त होते और कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाते। कवि उन्हें भी शब्दों में अंकित कर देते, किन्तु सर्वत्र शुचिता पूर्ण वातावरण का वर्णन हमें यह सोचने को विवश करता है कि तत्कालीन मानव पूरी तरह से पर्यावरण की शुद्धि हेतु सजग था।

महर्षि बाल्मीकि, महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाण, इत्यादि कवियों की रचनाओं का अध्ययन करते हुये हम समझ सकते हैं कि इन्होंने प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किये हैं। चाहे वह सघन वन हो या राजनगरों के उद्यान। ऋषियों के आश्रम हो या सामान्य जन के आवास। वे प्रकृति को मानव की सहचरी मानते हैं। बीसवीं शती का समाज भौतिकवाद में इतना लिप्त हुआ कि उसने प्राकृतिक संदोहन तो किया किन्तु उसे अपने जीवन से सर्वथा पृथक् समझा। कहाँ कालिदास की प्रकृति जो नाटक में अन्य मानवीय पात्रों की भाँति एक प्रमुख पात्र की भूमिका निभाती हैं। वृक्षों के पुष्पित होने पर पुत्रोत्सव की भाँति उत्सव मनाया जाता है और कहाँ आज धूलि धूसरित सड़कों के किनारे पेट्रोल का धुआँ लीलते हुये निरे उपेक्षित वृक्ष इस बात के द्योतक हैं कि आज का मानव पर्यावरण के प्रति सैकड़ों वर्षों से सजग नहीं रहा जिसके दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। यदि अब भी हमने संस्कृत साहित्य में निहित पर्यावरणीय संचेतना से शिक्षा नहीं ग्रहण की, उसके संस्कार आगे आने वाली पीढ़ी को नहीं दिये तो अवश्य ही और अधिक दुष्परिणाम सामने आयेंगे।

10वीं शती के प्रारम्भ में संस्कृत साहित्य में वर्णित नदियों के तट एवं नदियाँ पवित्र, स्वच्छ, मनोहारी एवं सुस्वास्थ्यकारी हुआ करती थीं। विविध जलचर, पक्षिगण निर्द्वन्द्व विचरण करते थे। हंस के पंख यदि मलिन होते थे तो कमलों के रजः पुञ्ज से, नदियों के जल यदि कसैले होते थे तो तटवर्ती वृक्षों के पीले पत्ते झरने से।

विकसितकनककमलकुवलयोच्छलितरज:पुंजपिंजरितहंसावतंसया-प्रचुरचलच्चकोरचक्रवाककारण्डवमण्डलीमण्डिततीरया........................गंगयापुण्यसलिल:।।[1]

किन्तु बीसवीं सदी के कवि की दृष्टि में गंगा का वर्णन देखिए-

पंकिलैः पशुभिः शुभे यं पिच्छिला गंगा कृता।
पापपंकं कुत्र गत्वा क्षालयिष्यामो वयम्।।[2]

आज नदियों के तटवर्ती विविध पादपों को ही नष्ट कर दिया गया है। गंगा यमुना हों या रेवा सभी अपनी स्थितियों में विलाप कर रही हैं।

रेवा रोदिति, रोदिति दुहितरि, रोदिति भारतमाता।
रोदिति जनता रेवा तटगा, रोदिति सज्जन हृदयम्।।
निबिडितबहुविधपादपहरिमा नष्टा सास्यन्महिमा।
बिहरणलोलुपमृगगणयोग्यं रेवाकूलं नैव स्यात्।।[3]

इतना ही नहीं आज जब हम नदियों के किनारों से गुजरते हैं तो मिलती है, सडाँध भरी दुर्गन्ध। जल का स्वत्व कहीं खो गया है। इसका कारण बढ़ी हुयी जनसंख्या है, बढ़ती हुयी फैक्ट्रियाँ हैं या हम सबकी लापरवाही है। वस्तुत: यह अपनी संपत्ति एवं संस्कृति की घोर उपेक्षा है। कोरा विज्ञान न तो हमें संरक्षण दे सकता है और न अस्तित्व। उसके लिए संस्कृति की सहभागिता अत्यावश्यक है। हमारी संस्कृति संस्कृत में सुरक्षित है। हमारा अतीत हमारे वर्तमान की आधारशिला है। उसके प्रति सदैव सजग रहना हमारा कर्तव्य है। प्रकृति के प्रति अपनी अवधारणा बदलनी है, उसे अपने सुख-दुःख में भाग लेने वाली जीवन-संगिनी समझ कर उसकी सार-संभाल करनी है, तभी हम सही अर्थ में 21वीं सदी का आनन्द ले सकेंगे।

पर्यावरण से सम्बन्धित अतीव महत्वपूर्ण घटक है हमारा वायु-मण्डल। वायु समस्त प्राणियों का जीवन है। यदि वायु ही प्रदूषित है तो सांस लेना दुष्कर होगा, जिसका सीधा प्रभाव जीवन पर पड़ता है। वर्तमान युग में यातायात के विविध संसाधनों से डीजल, पेट्रोल के दुष्प्रभाव से वायुमंडल अत्यंत दूषित हो गया है। जल को हम शुद्ध करके ग्रहण कर सकते हैं किन्तु वायुशोधन का कोई उपाय सामने नजर नहीं आता। जनरेटर एवं फैक्ट्रियों के उड़ते धुयें अपने विषैले प्रभाव से वायुमंडल को दूषित करते रहते हैं।

वायुमंडल के परिशोधन का उपाय यज्ञीय अनुष्ठान हैं जिसकी ओर

ध्यान देने की आवश्यकता है। वैदिक यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप वातावरण के परिशोधन में काफी उपयोगी भूमिका निभा सकते हैं। संस्कृत साहित्य के पाठ्यक्रम में यज्ञादि के प्रशिक्षण को अंतर्निहित कर हम दोहरे लाभ् उठा सकते हैं। इससे पर्यावरण-परिशोध तो होगा ही, संस्कृत के विद्यार्थी को व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में अग्रसर होने के अवसर भी प्राप्त हो सकते हैं। आज वैदिक विधि से यज्ञानुष्ठान करने वालों की पर्याप्त उपलब्धि नहीं है। इस क्षेत्र में अभिरूचि रखने वाले व्यवसाय के रूप में इसे अपनाते हुये वायु-शोधन में सहायक हो सकते हैं।

बाह्य प्रदूषण से प्रभावित होता है अन्तर्मन। अन्तर्मन के कालुष्य से हमारे संस्कार प्रदूषित होते हैं। संस्कारों के प्रदूषण से प्रभावित होता है परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र। संस्कृत साहित्य में मंत्रियों के गुणों का वर्णन करते हुये उन्हें विविध नीतिशास्त्र में पारंगत अलुब्ध, स्निग्ध तथा परम् विवेकी बताया गया है-

असकृदालोचितनीतिशास्त्र-निर्मल-मनोभिरलुब्धैः स्निग्धैः प्रबुद्धै-श्चामात्यै परिवृतः।[4]

इसके विपरीत 20वीं शती के मंत्रियों का वर्णन करते हुये आज के कवि की लेखनी का चित्रण देखिए-

बण्डा भण्डा विटाश्चेटाः खलाश्चापि निरक्षराः।
येन त्वया कृता भूपा लोकतंत्र नमोस्तु ते।।[5]

किस मनीषी का हृदय नेताओं के लिए उक्त विशेषणों को पढ़कर द्रवित नहीं होगा कि कवि का नेताओं से किया गया यह प्रश्न कितना स्वाभाविक है-

क्लिश्यते दुष्यति च शुष्यति भिक्षते रोद्धितिजनः।
अत्थपिबथ स्वपिथ हृष्यथ किं न लज्जा वेमनाक्।।
वस्त्रराहित्यं कुपोषणमत्रि वापि महार्घता।
नित्यमग्रे किमिति धावति वदत नेतारो मनाक्।।[6]

10वीं शती के समाज का चित्रण दर्शनीय है-

कूट-प्रयोगो गीततानविशेषेषु न व्यवहारेषु, वृत्तिकलहोवैयाकर-णच्छात्रेषु न स्वभाभिमृत्येषु, स्थानकभेदश्चित्रकेषु न सत्पुरुषेषु।[7]

आज सैकड़ों मंत्री ईश्वर की शपथ लेते हुये अपने दायित्व निभाने का दावा करते हैं किन्तु जनता की आशाओं पर शीघ्र ही पानी फिर जाता है। इसीलिए तो आज कविता नेताओं से प्रश्न कर रही है-

योऽयंकृतः शपथस्त्वया तस्यार्थमपि जानासि किम्,
यदिदं प्रतिज्ञातं त्वया तस्याशयं जानासि किम्?
स्नेहं दयां सौख्यं न ते गणयन्ति, भण, जानासि किम्,
योऽयं कृतः शपथस्त्वया तस्यार्थमपि जानासि किम्??[8]

आज भ्रष्ट प्रशासन का प्रभाव समाज को कहाँ ले जा रहा है? यह भी शब्दों में अंकित है-

नित्यहत्यापराधो वरीवर्द्धते,
क्रूरहिंसा समाजे दरीदृश्यते।
शान्ति-सीता बराकी भृशं कम्पते,
लोकविद्रावणो रावणो वर्धते।।
शासनासन्दिकाराधने प्रत्यहं,
निन्दनीया कुनीतिर्वरीवर्तते।
बाहुबद्धाःसमे चौरलोको अमी,
आगता नाशितुं पश्य बन्धो क्षणम्।।[9]

भ्रष्टाचार की समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यकता है निर्मल मन की। यदि मन पवित्र होंगे तभी स्वच्छ समाज की अभिव्यक्ति संभव है। इसके लिए नैतिक मूल्यों को समझने की, स्वानुशासित रहने की तथा अंहिसा को धारण करने की परम आवश्यकता है। प्राथमिक स्तर से उच्च-स्तरीय शिक्षा तक बच्चों में निरन्तर 14-15 वर्षों तक नैतिक शिक्षा के संस्कारों में समाविष्ट करने का कार्य न तो नेताओं की नीतियों से संभव है और न ही चार सम्मेलनों या संगोष्ठियों से। यह पवित्र कार्य तो शास्त्रार्थों का चयन करने वाले, सदाचार की ज्योति बिखेरने वाले युग-निर्माता आचार्यों के द्वारा ही संभव है। संस्कृत साहित्य में प्राप्त छोटे-छोटे मंत्रों, सूक्तों में महत् एवं गम्भीर अर्थों का समावेश है। इसे स्पष्ट करते हुये विद्यार्थियों के मन को संस्कारित करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ-

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।।[10]

इत्यादि अनेकानेक शिक्षायें यदि संस्कार रूप धारण कर लेंगी तो मनोमालिन्य स्वतः दूर होगा। भ्रष्टाचार उन्मूलन में संस्कृत साहित्य के माध्यम से किया गया ऐसा उत्तम उपाय अन्यत्र कहाँ सुलभ होगा?

बीसवीं सदी को हम विकट समस्याओं की उत्पादिका सदी मान सकते हैं। 21वीं सदी के प्रारम्भ में हमारा यह संकल्प हो कि हम उक्त समस्याओं का मूलत: निराकरण कर सकें तथा हम जगत को सुख, शांति एवं समृद्धि से पूर्ण जीवन प्रदान कर सकें।

21वीं सदी को हम कम्प्यूटर-युग कह सकते हैं। हमारा परम सौभाग्य है कि संस्कृत व्याकरण कम्प्यूटर हेतु समुपयुक्त व्याकरण है। इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये जा सकें, इस हेतु संस्कृत के इच्छुक प्राध्यापकों को नि:शुल्क कम्प्यूटर-प्रशिक्षण की प्रशासन की ओर से व्यवस्था की जाय तथा संस्कृत भाषा के माध्यम से अनेकानेक विषयों के कम्प्यूटरीकृत करने का प्रयास इस दिशा में नवीन तथा सार्थक प्रयास हो सकता है। व्यवसाय की दिशा में भी यह एक उत्तम प्रयास हो सकता है।

आज दूरदर्शन के व्यापक प्रभाव से प्रभूत अनिष्ट के अतिरिक्त विविध लाभ भी हुये हैं और हो रहे हैं। इस महत् वैज्ञानिक उपलब्धि के साथ ही हम अपनी संस्कृति की अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह बात अभी से विचारणीय है न कि वर्षों बाद। जब संस्कृति का स्वत्व ही लुप्त हो जायेगा तब विचार करने से क्या लाभ होगा। हमारी संस्कृति संस्कृत में सुरक्षित है। अतएव इसका अध्ययन वैकल्पिक न होकर अनिवार्य बनाया जाय। आज का वैज्ञानिक संस्कृत से अपरिचित है और संस्कृतज्ञ विज्ञान के विषयों से अनभिज्ञ है। संस्कृत भाषा के अन्तर्गत किस प्रकार के वैज्ञानिक, चिकित्सकीय, सांख्यिकीय, ज्योतिषीय, भौगोलिकीय एवं आध्यात्मिक तथ्य छिपे हुये हैं, इसका परिज्ञान तभी संभव हो सकेगा जब हर पाठ्यक्रम के साथ उससे सम्बन्धित संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाय। इससे विषय एवं भाषा का ज्ञान होने के साथ हमारी संस्कृति की पूर्ण सुरक्षा हो सकेगी तथा हम विश्व के समक्ष अपने स्वत्व को प्रदर्शित करते हुये गौरवान्वित हो सकेंगे। इस संदर्भ में डॉ0 अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी की सुन्दर उक्ति धारणीय है-

बिना गंगां, बिना गोदां, बिना विन्ध्यं हिमाचलम्।
क्व तिष्ठेद् भारतास्तित्वं बिना गीर्वाणभारतीम्।।
संस्कृतेनैव संस्कारा:, संस्कारैरेव संस्कृति:।
संस्कृत्यैव भुवि ख्यातं, राष्ट्रमार्यं नु भारतम्।।[11]

अंत में मेरी यही मंगल-कामना है कि 21वीं सदी में हमारा राष्ट्र अपनी संस्कृति एवं संस्कृत का संरक्षण करता हुआ शांत, सुमनस्, सुसमृद्ध राष्ट्र हो तथा विश्व में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे।

सन्दर्भ

1. नलचम्पू-प्रथम उच्छ्वास
2. कर्दमक्लिन्नाधरा-डॉ0 इच्छाराम द्विवेदी (अर्वाचीन संस्कृतम्, 15 अक्टूबर, 93)
3. नर्मदा विलाप:-डॉ0 सी0आर0 स्वामिनाथ (सुरभारती 91)
4. कादम्बरीकथामुखम्-बाणभट्ट
5. लोकतंत्र नमोऽस्तुते-डॉ0 अभिराजराजेन्द्रमिश्र (अर्वाचीनसंस्कृतम्)
6. वदत् नेतारोमनाक्-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल (भारतजनताहं)
7. नलचम्पू-प्रथम उच्छ्वास
8. भारतजनताहम् (योयंकृत: शपथस्त्वया)-डॉ0 रमाकान्त शुक्ल
9. अर्वाचीन संस्कृतम्-डॉ0 इच्छाराम द्विवेदी (15 अप्रैल, 91)
10. ईशावास्योपनिषद्
11. संस्कृतशतकम्-मिश्रोऽभिराज राजेन्द्र: (अर्वाचीन संस्कृतम्, 15 अक्टूबर 92)

चतुर्थ-खण्ड

विविध

'आधुनिक नारी' वैदिक दृष्टि में

आज नारी-उत्थान हेतु जितने प्रयास किये जा रहे हैं, उसे हर क्षेत्र में वरीयता दी जा रही है, चाहे वह शिक्षा हो या राजनीति हो अथवा व्यापार का क्षेत्र हो या चिकित्सा का। कहीं शुल्क मुक्ति के रूप में, कहीं आरक्षण देकर, कहीं आर्थिक संरक्षण देकर ये समस्त सुविधायें क्या नारी की अपेक्षाओं की सम्पूर्ति कर रही हैं? नारी शिक्षित होते हुये स्वावलम्बी हो रही है, उसकी जागरूकता बढ़ रही है। पहले की अपेक्षा निर्भीक एवं मुखरित हो रही है। भीरुता उससे पीछे छूट गयी है, वह अधिकारी हो या कर्मचारी, नेता या जनता, अभिनेत्री हो या कवियित्री, सर्वत्र अपना वर्चस्व बना रही है, किन्तु अभी ग्रामीण क्षेत्रों में सत्तर प्रतिशत नारी-समाज अशिक्षित है जो शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार नहीं कर पाता। उसके लिए नारी की स्थिति मौन रहकर बिना कुछ समझे हुये केवल परिश्रम करने की है। परिश्रम करने पर भी वह अपनी मौलिक आवश्यकताओं को स्वेच्छा से पूरा नहीं कर सकती। उसे दीनता का जीवन ही बिताने को मजबूर किया जाता है, क्योंकि वे स्त्री-शिक्षा को अंग्रेजी का प्रभाव मानते हैं। ऐसी स्थिति में आज के समाज में यह अवधारणा विकसित करना आवश्यक है कि स्त्रियों के लिए शिक्षा, उच्च शिक्षा की धारणा वैदिक काल से ही प्रचलित है, यह अंग्रेजी का प्रभाव नहीं, बल्कि भारतीयता से प्रेरित है। इसके अतिरिक्त नारी के शिक्षित होने पर उसके मनोबल का विकास होता है जिससे पूरा परिवार शिक्षित होता है और परिवार को सही दिशा मिलती है। शिक्षित नारी अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी भलीभाँति करने में सक्षम होती है। प्रस्तुत शोधपत्र में वैदिककालीन नारी की स्थिति पर विविध रूपेण विचार करते हुये आज की नारी की स्थिति से अपेक्षित सन्दर्भों को जोड़ने का प्रयास किया गया है।

आज नारी सुरक्षित होकर भी अपने आप को कहीं न कहीं किसी रूप में अशक्त अनुभव करती है। उसके पीछे यह कारण हो सकता है कि पिछली शताब्दियों में उसके लिए 'अबला' एवं 'दासी' जैसे अनुचित, हीन शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है, जिसके संस्कार, नारी मन में गहरे बैठे हैं तथा समाज भी उसे इसी रूप में देखना चाहता है। इस संदर्भ में यदि हम वैदिक चिन्तन की ओर लौटकर अपनी धरती

के मौलिक मंत्र को ग्रहण करना चाहें तो यजुर्वेद से हमें ज्ञात होता है कि 'नारी सहस्रवीर्या' है, उसमें सहस्रों प्रकार की शक्ति निहित हैं-

अषाढासि सहमाना सहस्वराती, सहस्व वृतनायतः।
सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व।।[1]

इस मंत्र में नारी को 'अजेय' कहा गया है। 'सहस्रवीर्या' पद से यह संकेत प्राप्त होता है कि नारी अपनी आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के पराक्रम प्रकट कर सकती है। वस्तुतः यह कथन स्त्री की असाधारण आत्मशक्ति का द्योतक है। वह स्वयं तो शक्ति-सम्पन्न है ही, दूसरों में भी पराक्रमपूर्ण प्रेरणादायिनी शक्ति का संचार करने में सक्षम है।

तैत्तिरीय-संहिता में इन्द्राणी की सेना को देवता कहा गया है। यह भी कहा गया है कि जिसकी सेना बल या निस्तेज हो, वह इन्द्राणी की निमित्त यज्ञ में आहुति दे, इससे उसकी सेना सबल होगी। वह सेना में तेजस्विता लाती है-

इन्द्राणी वै सेनायै देवता। सैवास्य सेनां सं श्यति।।[2]

यह उदाहरण नारी जाति के लिए गौरव का विषय है।

स्त्रियों की लज्जाशीलता और सुकुमारता के आधार पर आज उन्हें अबला समझा जाता है, यह भ्रान्त धारणा है। अथर्ववेद में यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री अबला या निर्बल नहीं, वह वीर है, वीरों की जननी है, वीरों की पत्नी है-

अवीरमिव मामयं शरारूरभिमन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।[3]

नीच और कामुक व्यक्ति स्त्री को निर्बल समझकर उन्हें आतंकित करना चाहते हैं। इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि स्त्री वीर है, वीरांगना है, वीर की पत्नी और स्वयं वीरता के कार्य करने वाली है।

प्रश्न उठता है कि निर्बलता और सबलता क्या है? विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि चारित्रिक न्यूनता एवं आत्मिक बल का अभाव निर्बलता है और सच्चरित्रता तथा आत्मिक बल का अस्तित्व सबलता है। चरित्र बल और आत्मबल शरीर की स्थूलता पर निर्भर नहीं है। यह मानव के उच्च गुणों पर निर्भर है। स्त्री में अपने सतीत्व की रक्षा का आधार उसका दृढ़ मनोबल होता है। उसका मनोबल उच्च होने पर कोई शत्रु या नीच व्यक्ति उसकी ओर देखने का भी साहस

नहीं कर सकते। सच्चरित्रता और पातिव्रत्य का इतना उत्कट बल होता है कि वह अग्नि तुल्य दाहक और नाशक होता है।

जो स्त्रियाँ निर्भीक और नि:संकोच हैं वे ही नेतृत्व कर सकती हैं। स्त्री में नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि उसमें अदम्य उत्साह हो। ऋग्वेद के एक मंत्र में ऊषा के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि नवीन शक्ति से युक्त होती ऊषा ज्ञान का प्रकाश फैलाती है। ऊषा में तेजस्विता है। वह नि:संकोच रूप से अन्धकार दूर करती हुयी सदा प्रात: प्रकट होती है। उसके उदय के बाद ही सूर्य आता है, यज्ञादि होते हैं और अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। अत: वह इन कार्यों में अग्रणी है।

नारी योग्य, निर्भीक और साहसी होने पर ही परिवार में प्रमुख होकर रहेगी। नारी के लिए आवश्यक है कि उसमें अध्यवसाय एवं आत्मानुशासन हो, वह कठिन परिस्थितियों का सामना कर सके और परिवार के सभी लोगों को नियंत्रण में रख सके। वह नियंत्रण योग्यता, कर्मठता और चारित्रिक बल पर निर्भर करता है।

माता के शुभ या अशुभ विचार गर्भस्य शिशु में प्रतिफलित होते हैं। अत: विधान है कि गर्भिणी सदा उच्च विचार रखें, प्रसन्न हों तथा भय न करें, क्योंकि राष्ट्र के लिए वीर सन्तान की आवश्यकता है।

ऋग्वेद के निम्न मंत्र में सुयोग्य पुत्रों और पुत्रियों का गुणगान करते हुये माता गर्व की अनुभूति करती है। पुत्री का तेजस्विनी होना भावी सन्तति की ओजस्विता का सूचक है-

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया, पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।।[4]

इस मंत्र में 'संजया' पद इन्द्राणी के स्वयं विजयिनी एवं शुभमर्दिनी होने का सूचक है, यह कथन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

आज की सत्तर प्रतिशत नारी अशिक्षा के अंधकार से त्रस्त हैं। उनके प्रति सामाजिक अवधारणा को परिवर्तित करने की अपेक्षा है। वस्तुत: अशिक्षा केवल नारी के लिए ही नहीं प्रत्युत पूरे परिवार के लिए, समाज के लिए अभिशाप है। नारी-शिक्षा हेतु सामाजिक अवधारणा को परिवर्तित करने की अपेक्षा है। इस परिवर्तन हेतु वैदिक चिन्तन से परिचित होने की आवश्यकता है। उदाहरण स्वरूप किसी ग्रामीण क्षेत्र में बालिकाओं को उच्च शिक्षा देने की बात करना, लड़की को अंग्रेजियत सिखाना है। किन्तु जब हम वैदिक चिन्तन को आगे करके

बात करते हैं, तो समाज उसे अपनी संस्कृति का अंग समझकर उसे सहज रूप में स्वीकार करने को तैयार हो जाता है, क्योंकि भारतीय मानस में अपनी पुरानी मान्यताओं के प्रति गहरी आस्था है।

वैदिक काल में नारी को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त थे। वे मंत्रद्रष्टा ऋषिकायें भी होती थीं। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 72वें सूक्त की रचयित्री अदिति बताई जाती हैं, 107वें सूक्त की दक्षिणा, 151वें सूक्त की ऋषिका श्रद्धाकामायनी हैं। 9वें मण्डल के 6वें सूक्त की कवयित्री अत्रिगोत्री निवावरी, 8वें मण्डल की अंगिरा गोत्री, शश्वती, 10वें मण्डल के 109वें सूक्त की ऋषिका देवी जुहू हैं। इन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है। स्त्रियों के लिए इस प्रकार उच्च संबोधन बड़े महत्त्व का है तथा ध्यातव्य है। घोषा एवं विश्ववारा वैदिक ऋषिकाओं में प्रमुख हैं। घोषा ने अपनी छन्द रचना की ओर स्वयं इंगित किया है-

एतं वा स्तोममश्विनावकर्मा तक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणां मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः।।[5]

अश्विनों, जिस कुशलता से भृगु रथ का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार इस स्रोत को मैंने तुम्हारे लिये रचा है। जिस प्रकार वर के लिए वधू का शृंगार किया जाता है और जैसे पुत्र-पौत्रों द्वारा वंशवेलि बढ़ाई जाती है, उसी प्रकार तुम्हारी स्तुति में ऋचाओं को मैंने संवारा है। वैदिक काल में स्त्री को यज्ञ करने और मंत्र पाठ का पूरा अधिकार दिया गया था। परवर्तीकाल में संकीर्ण वृत्ति के लोगों ने नारी को यज्ञ और वेदपाठ से वंचित किया था। यह वैदिक विधि का उल्लंघन है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार नारी को प्रतिदिन प्रातः और सायं यज्ञ करना चाहिए, इससे उसकी बुद्धि बढ़ेगी और श्रीवृद्धि होगी-

संहोत्रं स्म पुरानारी, समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणी, इन्द्रपतनी महीयेत,
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।[6]

इस मंत्र में स्त्री के गौरव का वर्णन है। स्त्रियाँ न केवल गृहकार्य में दक्ष होती थीं, अपितु वे सामूहिक यज्ञों में भाग लेती थीं और पति के साथ युद्ध में भी जाती थीं। सामूहिक यज्ञों में जहाँ पुरुषों का महत्त्व है, वहाँ स्त्रियों का भी महत्त्व कम नहीं है। जो स्त्रियाँ प्रतिदिन यज्ञ करती थीं वे सामूहिक यज्ञों में अवश्य जाती थीं। यज्ञशाला में उन्हें आगे स्थान दिया जाता था।

इस प्रकार वैदिक समाज का वास्तविक मूल्यांकन उस समाज की स्त्रियों की स्थिति से होता है। पुरुष-प्रधान समाज में स्त्रियों को कितना अधिकार प्राप्त होता है, कितना सम्मान प्राप्त होता है, विशेष महत्त्वपूर्ण है। वैदिक काल में नारी का जो चित्र हमें प्राप्त होता है, उससे आर्यों की सदाशयता का आभास होता है।

वैदिक काल में नारी के लिए विराट, सरस्वती एवं सिनीवाली संबोधन प्राप्त होते हैं। विराट् का अर्थ है तेजोमयी अर्थात् उच्च चारित्रिक बल वाली। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है अर्थात् चरित्र बल के साथ ही ज्ञान का बल स्त्री को पूज्य बना देता है। 'सिनीवाली' शब्द प्रतिपदा के नवोदित चन्द्र के लिये है। जिस प्रकार प्रतिपदा का चन्द्र निरंतर वृद्धि प्राप्त करता है उसी प्रकार स्त्री भी परिवार का वर्धन करती है-

प्रतितिष्ठ विराडसि, विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्रजायतां, भगस्य सुमतावसत्।।[7]

ऐसी नारी ऐश्वर्य के देवता या भगवान् की कृपा पात्र होती है।

वैदिककालीन युवतियाँ यथासम्भव इच्छानुकूल पति का वरण करती थीं। पतिगृह पहुँचकर युवती का दाम्पत्य जीवन आरम्भ होता था। विविध प्रकारेण वधू के शृंगार का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 85वें सूक्त में आर्य-वधू का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त के मंत्रों को आज भी विवाह के समय पढ़ा जाता है। वधू का पतिगृह में आगमन मंगलसूचक माना जाता था। वधू के सौभाग्य के लिए, बड़ी ही सुन्दर शुभकामना, प्रस्तुत ऋचाओं में है-

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।[8]

यहाँ कामना की गयी है कि नव दम्पत्ति आजीवन साथ रहें। पूर्ण आयु को प्राप्त करें। पुत्र-पौत्रों से युक्त गृह में आनन्दमय जीवन बितायें। नववधू सदैव सुमंगला नारी का प्रतिरूप बनी रहे। जिस वधू को ऐसे शुभाशीष दिये जाते हैं वह सच्चे अर्थों में गृहस्वामिनी होती थी, वह दासी नहीं समझी जाती थी, न ही सास, ससुर के दबाव में घुटनमय जीवन बिताती थी। ननदें उसका जीवन कलहमय नहीं बनाती थीं। वह पूरे परिवार की साम्राज्ञी थी। वह सास, ससुर, ननद तथा देवर सभी पर शासन करती थी-

साम्राज्ञी श्वसुरे भव, साम्राज्ञी श्वश्वां भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु।।[9]

इस मंत्र में संकेत किया गया है कि वधू सास, ननद और देवरों के साथ गृहस्वामिनी के रूप में रहे। तात्पर्य यह है कि वधू शिष्ट व्यवहार करे, सदा परिवार का हित चिन्तन करे तथा अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से सबको अपने अनुकूल रखे। वस्तुतः नारी के स्वामित्व की चर्चा जहाँ से शुरू होती है, वहीं से उसके उत्तरदायित्वों का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। पूरे परिवार के सदस्यों के खान-पान, आचार, व्यवहार एवं सुस्वास्थ्य का, वृद्ध एवं रुग्ण की परिचर्या का दायित्व भी उसी का होता है, ऐसी स्थिति में उसका स्वामित्व होना भी आवश्यक है अन्यथा वह मात्र वंदिनी होकर ही रह जायेगी। वैदिक काल में नारी को उत्तरदायित्व बोध किस प्रकार था, इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त है-

विश्वोह्यन्यो अरिराजगाम ममेदहः श्वसुरो ना जगाम्।
जक्षीयाद् धाना उत सोमंपपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्।।[10]

किसी सहभोज के अवसर पर जब सभी आमंत्रित भोजन कर चुके और वसुक्र-पत्नी के श्वसुर नहीं आये तो उसने अपनी चिन्ता उक्त मंत्र में व्यक्त की है। वह चिन्तित है कि श्वसुर भी आते तो वह भी सुस्वादु भोजन कर लेते। इससे तत्कालीन पारिवारिक आदर्श की प्रस्तुति होती है। आज की नारी अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक हो रही है, उसे पति-गृह में हर प्रकार के स्वामित्व की अपेक्षा है किन्तु कर्त्तव्यों को वह नहीं स्वीकारना चाहती, इसका उदाहरण पूरे समाज में प्राप्त है। पतिगृह आने के पश्चात् आज की वधू केवल पति को ही स्वीकार कर पाती है, पति के परिवार-जनों के प्रति उसे आत्मीयता का बोध नहीं होता। इसका कारण है उसे बाल्यावस्था से ही विपरीत संस्कार दिये जाते हैं। हास-परिहास के माध्यम से ऐसे बीज आरोपित किये जाते हैं जैसे कि श्वसुरालय, बालिका का अपना घर न होकर उसको आतंकित करने वालों का गृह हो, किन्तु वैदिक काल में दी जाने वाली शिक्षा का संकेत द्रष्टव्य है-

स्योना भव श्वसुरेभ्यः, स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनाऽस्यै सर्वस्यै विशे, स्योना पुष्टायेषां भव।।[11]

हे वधू, तुम श्वसुरों के लिए सुख देने वाली हो, परिवार के लोगों के लिए सुख देने वाली हो। तू समस्त परिजनों को सुख देने वाली हो, तू

सुखद होते हुये इन सबके पोषण के लिए हो। इन दायित्वों के निर्वाह के लिए स्त्री का विदुषी और ज्ञानवती होना आवश्यक है, तभी वह कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहते हुये जीवन के प्रति सजग रहेगी। पतिगृह में सुरक्षा एवं व्यवस्था का ध्यान रखने के लिए उसका स्वस्थ रहना आवश्यक है। अतएव उसके दीर्घायु की कामना 'दीर्घ त आयुः सविता कृणोतु' (अथर्व० 14।2।75) में की गयी है। नारी स्वस्थ रहे तथा परिवार को भी स्वस्थ रखें, इस सन्दर्भ में यजुर्वेद के द्वादश अध्याय में कहा गया है कि स्त्रियाँ औषधि-विद्या अवश्य ग्रहण करें, क्योंकि औषधीय ज्ञान रखने वाली स्त्रियाँ ही कल्याणकारिणी हो सकती हैं, वे स्वयं स्वस्थ रह सकती हैं तथा दूसरों के रोगों का निवारण कर सकती हैं-

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शं हृदे।।[12]

यहीं एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि औषधि विद्या के विद्वान् इकट्ठे बैठकर प्रश्नोत्तर विद्या से परस्पर विचार विनिमय किया करें जिससे यह विद्या अधिक प्रभावोत्पादक होकर रोगों के निवारण में समर्थ हो सके।

वैदिक मंत्रों के अध्ययन से नारी अपनी दीनहीनता को समाप्त कर सोयी हुयी शक्तियों को उद्बुद्ध कर सकेगी, उसका मनोबल पुष्ट होगा, आत्मबल का सम्पूर्ण विकास होगा। उसमें नवीन नारी का जन्म होगा। एक वैदिक मंत्र के भावानुसार जैसे सूर्य प्रदीप्त किरणों से वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही विदुषी तथा अग्नि के समान तेजस्विनी स्त्रियाँ सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक करती हैं और अपने दक्षतापूर्ण कार्यों से सबको प्रभावित करती हैं। यदि नारी समाजसेवी के रूप में आती है तो ग्राम, नगर और समाज उसका ऋणी रहेगा और उसका सम्मान करेगा। इन कार्यों के द्वारा नारी सबके लिए सुखद और आदरणीय होगी, ऐसी मंगलकामना अथर्ववेद के तीसरे काण्ड में प्राप्त होती है-

शिवा भव पुरुषेभ्यो, गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि।।[13]

उक्त वैदिक प्रसंगों में हमें नारी के उदात्त स्वरूप का दर्शन होता है। आज समाज इन तथ्यों को स्वीकार करे, यह आवश्यक नहीं किन्तु आज की नारी यदि इन उदात्त भावों को स्वीकार कर ले तो उसका मनोबल अधिक पुष्ट

होगा, उसकी कार्यदक्षता अधिक विकसित होगी, उसकी आत्मशक्ति जागृत होगी। उसकी आत्मशक्ति उसे उँचाई तक पहुँचने में सक्षम बना सकती है। वह परिवार की ही नहीं, प्रत्युत पूरे राष्ट्र की स्वामिनी बन कर विविध क्षेत्रों के उत्तरदायित्वों को सम्हालती हुयी अपनी 'सहस्रवीर्या' शक्ति को उद्बुद्ध कर सकती है। ऐसी शक्ति सम्पन्न महिलायें ही समाज में फैली कुरीतियों एवं विकारों को दूर कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकती हैं, जिसकी आज महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. यजुर्वेद 13।26
2. तैत्तिरीय संहिता 2।2।8।1
3. ऋग्वेद 10।86।9
   अथर्ववेद 20।26
   निरूक्त 6।31
4. ऋग्वेद 10।159।3
5. ऋग्वेद 10।39।14
6. ऋग्वेद 10।86।10
   अथर्ववेद 20।126।10
7. अथर्ववेद 14।2।15
8. ऋग्वेद 10।85।42
   अथर्ववेद 14।1।12
9. ऋग्वेद 10।85।46
10. ऋग्वेद 10।28।1
11. अथर्ववेद 14।2।27
12. यजुर्वेद 12।92
13. अथर्ववेद 3।28।3

अभिराजराजेन्द्र मिश्र की कथाओं में नारी-चेतना

आधुनिक संस्कृत साहित्यकारों में प्रो0 राजेन्द्र मिश्र विशेष रूप से समादृत हैं। आप हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला में कार्यरत थे तथा अनवरत साहित्य साधना में तत्पर हैं। आपके दो महाकाव्य 'जानकीजीवनम्' एवं 'वामनावतरणम्' तथा 'नवाष्टकमालिका', 'शताब्दी काव्यम्', 'धर्मानन्दचरितम्' इत्यादि नाटक, कथाग्रन्थ हिन्दी साहित्य एवं भोजपुरी में विविध ग्रन्थ और बाल साहित्य प्रकाशित हो चुके हैं। आप इन्डोनेशिया में बाली के उदयन विश्वविद्यालय में 'विजिटिंग प्रोफेसर' रह चुके हैं। अतएव आपने वहाँ की संस्कृति को उजागर करने वाला साहित्य भी प्रस्तुत किया है।

इक्षुगन्धा, राङ्डा, चित्रपर्णी, अभिनव पञ्चतंत्र एवं पुनर्नवा ये पाँच कथा ग्रन्थ आपके द्वारा विरचित हैं। प्रस्तुत शोधलेख में मैंने डॉ0 मिश्र की कुछ कथाओं के आधार पर 'नारी चेतना' को लक्ष्यकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

वस्तुत: किसी भी राष्ट्र के निर्माण एवं संवर्धन में नारी का योगदान सर्वोपरि होता है। किसी भी राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास एवं उसके उत्कर्ष की आधारशिला वहाँ की नारी की सामाजिक स्थिति एवं चेतना शक्ति पर आधारित होती है। सम्पूर्ण मानव समाज का उत्कर्ष यद्यपि स्त्री एवं पुरुष दोनों की समान प्रतिष्ठा से ही संभव है। स्त्री पुरुष के पारस्परिक सहयोग की भावना से एक परिवार की मर्यादा कायम होती है। बच्चे अच्छे नागरिक बनते हैं, जिससे अच्छे समाज की कल्पना साकार होती है। राष्ट्र का सुविकसित रूप सामने आता है, फिर भी इस बात से कोई विरोध नहीं कर सका कि नारी की मर्यादा राष्ट्र को परिपुष्ट करने वाली तथा कीर्ति न क्षीण होने वाली संस्कृति का निर्माण करने में सक्षम होती है।

प्रो0 मिश्र की कथाकृति इक्षुगन्धा में 'जिजीविषा' नामक कहानी तपती नामक अविवाहित मध्यम वर्गीय युवती की कथा है। तपती के पिता की 40 की उम्र में हृदयाघात से अचानक मृत्यु हो जाती है। पिता के अभाव में परिवार की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो जाती है, उसकी छोटी बहिन शीला की पढ़ाई रुक जाती है। दुधमुँहा भाई दूध के अभाव में सूख जाता है। वह परिवार के पोषण के लिए नौकरी करने का निर्णय लेती है। बड़ी ही कठिनाई से वह नौकरी पाती है, किन्तु जब उसकी माँ

उससे पूछती है कि वह कहाँ पर कैसी नौकरी कर रही है? माँ भी उसके कार्यालय जाना चाहती है। ऐसी स्थिति में तपती व्यथित हो जाती है। वह अंतव्यथित होती हुयी अतीव अंतर्द्वन्द्व में सोचती है-

'केन मुखेन सत्यमुद्घाटयेद् बाला? कथं न व्याख्येयंयत्सा कस्यचित् कामलोलुपस्य कार्यालयाधिकारिण: पिपासां क्षुधां च प्रशमय्यैव वृत्तिमवाप्तुं समर्थास्ति जाता? यौवनादृते किमन्य-दासीत् तदर्हत्वम्। नासौ जनन्यकशायिनी तपती सम्प्रति कस्य-चित्यपर्यङ्कशायिनी सा।'[1]

विकट अंतर्द्वन्द्व के बाद तपती अपनी माँ से अपने मन की घुटन को बड़े ही कारूणिक ढंग से अभिव्यक्त करती है। उसके भावों की अभिव्यक्तियों में कथाकार की निपुणता देखिए-

'अम्ब! कलंकिनी जातास्मि। निन्दमाम्' भर्त्सय माम्। ताडय माम् कलंकितम्मया प्रातस्मरणीयस्य पितृचरणस्य सुगृहीतनामधेयम् किन्तु सोमस्य मादृवं मुखं शीलायाश्च विषादग्रस्ते नयने प्रेक्षमाणाया मे किमन्यदासीदवलम्बनम्? यौवनम्मे सोदरभरणात् समधिकगरीय: किम्?'[2]

आज आर्थिक कठिनाइयों से जूझती नारी अपने दायित्वों की पूर्ति के लिए किस तरह शोषण का शिकार बनती है। इस समस्या को सामने रखकर लेखक ने तपती एवं उसकी माँ की व्यथा को दूर करने का प्रयास किया है।

अविवाहित युवा बेटी की व्यथा जानकर माँ की क्या करूण स्थिति होती है? असहाय माँ अपनी व्यथा किससे कहे? वह ईश्वर को ही लक्ष्यकर अपनी वेदना प्रकट करती है।

'अंतर्यामिन् दृष्टो मया भवन्न्याय:। अये निर्घृण निष्कृप परमेश्वर तपती! हृदयतापमपि नानुभूतवानसि? गङ्गाजलं मदिरायितं त्वया? सिन्दूरवारमञ्जरी कामलम्पटाय समर्पिता? साम्प्रतं क्व यामि?'[3]

उक्त समस्या के समाधानार्थ लेखक विवेक युवक को सामने लाते हैं, जो विमला का परिचित और तपती से विवाह करना चाहता है। ऐसा समाधान दिखाकर लेखक ने एक ओर युवती की विवशता एवं माँ की अंतर्व्यथा को तो दूर किया ही है पाठकों को भी समीचीन समाधान से सन्तुष्ट किया है। कथा में प्रसाद गुण युक्त भाषा का गद्यप्रवाह पाठक को कहानी पूरी होने तक आबद्ध किये रहता है, कहीं भी पाठक ऊबता नहीं।

'भग्नपञ्जरः' कथा विधवा युवती वंदना की व्यथा कथा है। वंदना बी0ए0 पास युवती है जिसकी शादी पिता अपनी इच्छानुसार एक अल्पशिक्षित, गुणविहीन ग्रामीण व्यक्ति के साथ कर देते हैं। भाग्य का विधान समझ वंदना अपने ससुराल में सामंजस्य बनाती हुयी रहती है, किन्तु दुर्भाग्य से सर्पदंश के कारण उसके पति की मृत्यु हो जाती है। माँ के हठ से उसके पिता उसे ससुराल से लिवा लाते हैं किन्तु मायके में रहते हुए वंदना सुखी नहीं रहती। वह अनुभव करती है कि उसके पिता उसे दुर्भाग्य एवं कुलघातिनी मानते हैं। माता को छोड़ उसे कोई नहीं चाहता। सभी उसे भार समझते हैं और दुर्वचन कहते हैं। पिता के मुख से अपनी ही विधवा बेटी के लिए कहे गये कटुवचन भारतीय विधवा नारी का अंकन करते हैं-

'यतः प्रभृति समागतेयमत्र गृहस्य हासोलुप्तः। कियद् वारमुपदिष्टम्मया वत्से रामायण पठ। गीताभ्यासं कुरू। न वयं संस्कारहीना निम्नजातीया वा। पुनरपि त्वां पाणिभ्यां ग्राहयितुं न वयं समर्था। परन्तु इयं हतभाग्या तत्सर्वं न करिष्यति।'[4]

वंदना भली प्रकार समझती है कि विविध विद्याओं के पण्डित, सरकारी सेवा से निवृत्त एवं परिपक्व विवेक वाले उसके पिता यदि अपनी ही विधवा बेटी की व्यथा नहीं समझते हैं तो उसका भविष्य सुखमय कैसे हो सकता है? वह देखती है कि उसकी ही उम्र वाली उसकी भाभी की सुख सुविधाओं का उसके पिता हर पल ध्यान रखते हैं किन्तु विधवा बेटी के भस्मीभूत सुख को पुनः प्राप्त कराने का कोई उपाय नहीं सोचते। क्या युवती वंदना को सुख से जीने की इच्छा नहीं होती? क्या वह नहीं चाहती कि उसके जीवन का कोई सूत्रधार हो, वह भी माँ बने, उसका भी संसार हो। उसकी अन्तर्व्यथा का चित्रण लेखक ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है-

'विधवास्मि जाता। किमपराद्धम्मया? यो मामसहायां विहायोपद्रुतः मां विधवामंगलकारीञ्चोद्घोष्य पलायितः मम सौख्यसौधं भस्मसात्कृत्य विलीनः किन्तेन नापराद्धम्। वात्याध्वस्तं कुटीरं सर्वे पुनर्व्यवस्थापयन्ति। मलीमसं जलं निर्मलीकृत्य पिबन्ति। रोगग्रस्ते शरीरमौषधोपचारैः स्वस्थं विदधति। तत् किं वैधव्यमेव निरौषधम्?'[5]

वस्तुतः यह केवल वंदना की पीड़ा नहीं है, यह भारतीय विधवा की अन्तर्व्यथा है जिसे हमारा समाज, परिवार सदैव तिरस्कृत करता

रहा है। आज भी हमारे समाज में न तो विधवा को सम्मानित दृष्टि से देखा जाता है, न ही उसके भविष्य के प्रति समुचित समाधान किया जाता है।

वंदना सोचती है कि रात में सोते समय सम्भवत: माता-पिता उसके बारे में उसके भविष्य के बारे में अवश्य विचार करते होंगे। वह छिपकर उनकी बातें सुनती है और यह जान लेती कि उसके प्रवचनपरायण पिता 62 वर्षीय होने पर भी स्वयं भोग लिप्सा से विमुख नहीं हुये हैं किन्तु 20 वर्षीया बेटी को तपस्विनी बनाना चाहते हैं। उसके अंदर की चेतना उद्बुद्ध होती है, वह स्वयं अपने भावी जीवन के प्रति जागरूक हो उठती है तथा निर्णय लेती है-

'स्वभविष्य निर्माणं मयैव करणीयं विद्यते। मत्सतीर्थ्यो जयदेव इदानीमपि मत्पाणी याचते। तेन सार्धं निवसन्ती भार्या-धर्मञ्चपालयन्त्यहं सर्वमैहिकमामुष्मिकञ्च कल्याणं प्राप्स्यामि।'[6]

विचारों के झंझावात से क्षुब्ध वंदना के अन्तर्मन से उठती हुयी आवाज उसके जीवन को एक नया मोड़ देने में समर्थ होती है-

'उत्तिष्ठ भद्रे! भग्नपञ्जरोऽयं गेहः। मुञ्चेयम् प्रतीक्षते त्वां जयदेवः। न ते पितुस्त्वय्यात्मत्वम्। कौमारेऽपि भारभूतासीः इदानीमपि भारभूतासि तत्कृते। अतएव विजहि भग्नपञ्जरमिमं सारिके। विहर नीलनभोमण्डले। तत्रास्ति जीवनम्। तत्रास्ति ते कांक्षित् सहचरः। तत्रास्ति ते चिरवाञ्छितं कल्पना साम्राज्यम्।'[7]

वंदना धीरे से उठती है। बंद दरवाजे खोलकर ढलती हुयी रात में वंदना अपने जीवन के नव सुप्रभात की खोज में पिता के घर से निकल पड़ती है।

प्रस्तुत कहानी में लेखक ने पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है कि विधवा युवती के भविष्य के बारे में यदि उसके जनक ही नहीं सोचना चाहते तो किसी अन्य की बात ही क्या? जीवन के त्रासदी भरे पलों में भी कोई अपना नहीं होता, सहायक होता है तो केवल अपना विवेक। आगे का पथ प्रशस्त करती है तो केवल अपनी चेतना शक्ति। अतएव दु:खद एवं विषम परिस्थितियों में भी स्त्री को अपनी सद्बुद्धि से ही निर्णय लेना चाहिए। आज के शिक्षित समाज में भी रूढ़िवादी धारणायें अपनी जड़ें जमाये हुये है। पुत्र एवं पुत्रवधू की हर सुख-सुविधा का ध्यान रखने वाले माता-पिता पुत्री

को पहले अयोग्य अल्पशिक्षित युवक के साथ विवाह करने को बाध्य करते हैं, फिर विधवा होने पर उसे भार समझते हैं। आज जहाँ चारों तरफ सास, ससुर, ननद, देवर के द्वारा बहू को आतंकित किये जाने की गाथा सुनायी पड़ती है, वहीं मायके में बेटी के प्रति हो रहे अत्याचार की ओर इंगित करने वाली यह कहानी अपना विशेष महत्व रखती है एवं नारी के अंदर यह चेतना उद्बुद्ध करने का विशेष प्रयास करती है कि बेटियाँ स्वयं अपने जीवन के प्रति सजग रहें। स्वार्थी माता-पिता के निर्णय को आँख मूँद कर स्वीकारने में समस्या का समाधान नहीं। विधवा होने की स्थिति में अपने को असहाय समझ कर घुटनपूर्ण व्यथित जीवन बिताने से अच्छा है वह स्वयं उचित निर्णय ले। जीवन के प्रति हताशा का भाव उचित नहीं, उसे भी सम्मानित जीवन जीने का पूरा अधिकार है।

इस प्रकार डॉ0 मिश्र यह आवाज उठाना चाहते हैं कि नारी का नारीत्व उसके लिए अभिशाप नहीं, उसको कुण्ठित करने का साधन नहीं बल्कि उसकी अंतश्चेतना में निहित शक्ति का उद्बोधक है।

अभी आपने विधवा बेटी के प्रति एक पिता की प्रवंचना का दृश्य देखा। अब एक दूसरी कहानी 'शतपर्विका' में सात कन्याओं के प्रति पुत्रविहीन पिता की अवधारणा को सुनिये।

रामलाल सज्वर से पीड़ित 40 वर्षीय पुरुष है, जो रक्षा लेखा कार्यालय में क्लर्क है और सात पुत्रियों के पिता हैं। रमा, श्यामा, श्यामला, विमला, अचला, कमला, पार्वती ये सातों दिन भर घर में हंसती खेलती हैं। किन्तु पिता के ऑफिस से आने के समय डरी सहमी सी घर के कोने में छिप जाती हैं। इन कन्याओं ने अपने पिता के प्यार भरे दो शब्द भी कभी नहीं सुने। उनकी डाँट फटकार एवं तिरस्कार से कन्याओं के कोमल मन अत्यंत त्रस्त हैं। कन्याओं को देखकर रामलाल को दुःसह वेदना होती है। वह सदैव प्रबल पुत्रलालसा से संतप्त रहता है। कन्याओं के प्रति उसकी कटु भावनायें इस प्रकार चित्रित हैं-

'सप्तसंख्यका इमे जाताः। केन याचिताः। मृत्युचीत्कृतय इव नक्तन्दिवं मां परितः कथमेताः क्रीडन्ति? कथं न म्रियन्ते? किमर्थं सिर्वा अक्षता जीवन्ति? किमेतासां कृते न कृतो रोगोव्याधिर्वा भगवता महिषवाहनेन।'[8]

वंश दीपक न होने पर अपने भाञ्जेय श्यामलाल को दत्तक पुत्र

बना लेता है। लम्पट व्यसनी श्यामलाल 17 वर्ष का होने पर भी रामलाल को सन्तुष्ट न कर सका। एक दिन माँ की अनुपस्थिति में थके हारे ऑफिस से लौटे पिता को पानी देने के लिए काँपती हुयी बेटी रमा जलपात्र लेकर पिता के पास जाती है और उनसे पानी पीने का बार-बार अनुरोध करती है। रामलाल पानी लेकर आयी हुयी अपनी भयभीत बेटी को तिरस्कृत कर देता है-

'किं प्रमत्तशुनीव पितः पितः बुक्कसि? अपेहि। न मया त्वमाकारिता। क्व वर्तते तेऽम्बा।'[9]

पिता की फटकार सुनकर रमा घर के अंदर जाकर रोती है। उस समय के दृश्य का शब्द चित्र देखिए-

'सर्वाः भगिन्यः पुञ्जीभूताः। अग्रजा रोदिति। किमर्थं रोदिति? केन किं कथितम्। पित्रा किञ्चिदप्रियंभाषितम् इति बहुविधाः प्रश्नाः क्षणमात्र एव समुत्थितवन्ताः।'[10]

रोती हुई निश्छल बेटी रमा की अन्तर्व्यथा से एक नयी चेतना का स्फुरण होता है और वह पुनः विचार करती है-

'पाषाणेऽपि राजतेऽग्निः। अस्मत्पितुर्मानसेऽपि वात्सल्येनावश्यमेव भवितव्यम्। तदहं प्रकटीकरिष्यामि। यदि प्रयत्नेऽस्मिन् प्राणाऽपि विनश्यन्ति तर्हि न कापि चिन्ता। इदानीं पार्वत्या इव मनसि मे निर्बन्धो जातः। अहमेव भविष्यामि उताहो पितृद्वेषः सुतां प्रति।'[11]

रमा पुनः पिता के पास जाती है और थके हारे पिता को शय्या पर पड़ा हुआ देखती है। उसके मन में पिता के प्रति सेवा भाव जाग्रत होता है। वह उन्हें अपनी सेवा से स्वस्थ करना चाहती है। कोमल करों से धीरे-धीरे पिता के चरणों को दबाती है, हाथों को दबाती है और मन में सोचती है-

'जन्मप्रदाताऽयं जनः। रोगजर्जरो नितरां कायिकीं सेवामपेक्षते। सन्ततिभिरेव सेवा शक्यते कर्तुम्। श्यामलालस्तुः नौरसः पुत्रः। कामं स रामलालः न सेवेत ....तस्यास्तुं पवित्रतमं कर्तव्यमिदं भवति।'[12]

रमा पिता की सेवा करती है। अचानक पिता की आँख खुलती है और रमा डर कर भाग जाती है। रामलाल जगकर स्वस्थ अनुभव

करता है। उसका शरीर अब पीड़ा मुक्त होता है। वह जान लेता है कि उसकी बेटी रमा ने उसकी सेवा की है। सिर में तेल लगाकर दबाया है जिससे उसकी आँखें खुल गयी हैं। उसे स्वयं से बड़ी ग्लानि का अनुभव होता है। उसकी बेटी अपमानिता एवं तिरस्कृत किये जाने पर भी उसके प्रति सेवा भाव रखती है तथा श्यामलाल पुत्रवत् समादृत होने पर भी उससे कोई मतलब नहीं रखता। रामलाल कन्याओं के प्रति वात्सलभाव से भर जाता है।

बालिका रमा के दृढ निश्चय एवं सेवाभाव से पिता के मन में जो परिवर्तन होता है वह कथाकार ने रामलाल के शब्दों में ही प्रकट किया है-

'मयानृशंसेन पुत्रलोभवशात् स्वकन्यकाः भृशं समुपेक्षिताः। हन्त भोः ....यदि नाम मत्कन्यकाः प्रारम्भादेव मद्वात्सल्य-लालिताः अभविष्यन् अवश्यमेवासां सद्गुणविकासोऽभविष्यत् नाहमासां पिता भवितुमर्हामि। वागुरिकोऽस्मि सर्वथा वागु-रिकोऽस्मि।'[13]

रामलाल अपनी पत्नी से प्रसन्नता पूर्वक अपनी कन्याओं के प्रति स्नेह प्रकट करता है-

'सौभाग्यवति। शतपर्विका इव मे तनूजाः। यथाहरितपर्णा शतपर्विका गृहद्वारसुषमां संवर्धयति, शयने तूलास्तरण साम्यं दधती सौरूप्यं जनयति। स्वनवनवाङ्कुरैः पशुपक्षिणं प्राणयति.... अनभिषिक्तापि स्वादृष्टबलेनैव पुनर्नवतामुपैति नित्य हरिता च संलक्ष्यते तथैव पुत्र्योपि मे वर्तते।'[14]

उक्त कथा के माध्यम से कथाकार ने यह व्यक्त किया है कि नारी अपनी बाल्यावस्था से ही उदारता एवं सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति होती है। सेवापरायणता उसका स्वभाव है, ऊपर से थोपा गया गुण नहीं। इन्हीं सद्गुणों से वह पिता के अंदर छिपे वात्सलभाव को जाग्रत कर सकी है।

कथासंग्रह राङ्गडा में 'चञ्चा' नामक कहानी में मुन्नीबाई को एक अधिवक्ता निरञ्जन नीचा दिखाने का दुष्प्रयास करता है। निरञ्जन पतित एवं भ्रष्ट होने पर भी समाज में सम्मानित जीवन व्यतीत कर रहा है। उसने अपने अतीत में मुन्नी को प्रणयजाल में फंसाकर उसे जान से मारने की कुचेष्टा की थी किन्तु भाग्यवश मुन्नी को पुनः

जीवन मिल गया। वह महेश्वर नामक तबलासंगतकार के साथ पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रही है। उसकी बेटी सीमा का प्रेम विवाह विश्वविद्यालय के एक प्रवक्ता से होता है। यह बात निरञ्जन को अच्छी नहीं लगती। वह सीमा का वैवाहिक जीवन नष्ट करना चाहता है। इसके लिए वह मुन्नीबाई को कोर्ट में लाकर नीचा दिखाने का प्रयास करता है। कोर्ट में जज के सामने मुन्नीबाई ने निरञ्जन के जीवन के कुत्सित रहस्य को उद्घाटित करके उसकी जो भर्त्सना की है वह एक व्यथित नारी की क्रान्तिकारी आवाज है। मुन्नीबाई ने अधिवक्ता के प्रति जो आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति की है वह लेखक की प्रवाहमयी भाषा में बड़ी ही सहज है-

'हन्त ईदृशा एव मायाविनश्शठाः प्रतिदिनं न्यायालये न्यायं याचन्ते आगुल्फ कर्दमावसक्ता रञ्जितश्रृगाला बाक्कीलाख्या इमेऽन्यानुपदिशन्ति। स्वयमेव पुनस्ते सीतापहारका रावणाः द्रौपदीवस्त्रहरादुःसासनाः। '[15]

'समाजे न्यायालये च महंतीख्यातिं समृद्धिं च भजत परन्तु चञचायंचाञया:। यथा पशुपक्षिभयार्थं कृषके मध्यक्षेत्रे क्षेत्रपुरूषीकृत्य चञ्चां स्थापयन्ति तथैवायमपि नराधमोऽयं वधिकोऽयं, भूतकलंको श्रीमन्। '[16]

इस प्रकार डॉ0 मिश्र ने लघु कथाओं के आश्रय से जीवन की विविध विषमपरिस्थितियों में उलझी नारी की स्थिति का यथार्थ परक समाकलन करते हुये नारी के अंदर सुप्त आंतरिक चेतना शक्ति को उद्बुद्ध करने का प्रयास किया है। नारी के मनोभावों का चित्रण, चाहे वह बालिका हो, विवाहिता हो या विधवा हो या समाज में शोषण का शिकार हो, इन सभी का बड़ी ही स्पष्ट एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में पाठकों के समक्ष मार्मिक चित्रण किया है। भाषा के सशक्त एवं लोकोक्तियों से युक्त होने के कारण पाठक को कथापाठन के समय उक्ताहट नहीं होती बल्कि गद्य काव्य का सा आनंद आता है।

यद्यपि आज की भारतीय नारी सफलता के सोपान पर तीव्रगति से अग्रसर हो रही है किन्तु परित्यक्ता, विवश, विधवा एवं गरीबी की त्रासदी से त्रस्त युवती की व्यथा वहीं की वहीं है, उसमें अपेक्षित परिवर्तन अभी तक नहीं हो सका है। यही वह तथ्य है जिसे कथाकार ने विविध कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. इक्षुगन्धा, जिजीविषा, पृ0 13
2. इक्षुगन्धा, जिजीविषा, पृ0 14
3. इक्षुगन्धा, जिजीविषा, पृ0 14
4. इक्षुगन्धा, भग्नपञ्जरः, पृ0 53
5. इक्षुगन्धा, भग्नपञ्जरः, पृ0 55
6. इक्षुगन्धा, भग्नपञ्जरः, पृ0 56
7. इक्षुगन्धा, भग्नपञ्जरः, पृ0 56
8. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 37
9. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 39
10. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 39
11. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 39
12. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 40
13. इक्षुगन्धा, शतपर्विका, पृ0 40
14. राङ्गडा, चञ्चा, पृ0 40
15. राङ्गडा, चञ्चा, पृ0 41
16. राङ्गडा, चञ्चा, पृ0 41

शाश्वत एवं जीवन्त भाषा-'संस्कृत'

('विश्व संस्कृत सम्मेलन' में प्रस्तुत शोधपत्र)

परम सौभाग्य का अवसर है कि भारतवर्ष में संस्कृत भाषा से सम्बन्धित अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करने एवं तत्सम्बन्धी विविध समस्याओं का समाधान खोजने हेतु 'विश्व संस्कृत-सम्मेलन' का आयोजन हो रहा है। यह केवल संस्कृत भाषा-भाषी लोगों के लिए या केवल भारत के लिए गौरव की बात नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व के लिए गर्व का विषय है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की सार्थकता आज के लिए तकनीकी प्रगति के युग में अक्षरशः चरितार्थ है क्योंकि वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति से विश्व के ऐक्य में एवं संयुक्तीकरण में निरंतर प्रगति हो रही है। इस सत्य की उद्घोषणा आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व संस्कृत भाषा के माध्यम से हुयी थी। **'जनं बिभ्रती बहुधाविवाचसम्', 'न हि मानवात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्', 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'** इत्यादि शाश्वत सन्देशों को सतत् अभिव्यक्त करने वाली ये भाषा हजारों वर्षों से भारत की सांस्कृतिक विरासत एवं जीवंत परम्पराओं की संवाहिका रही है तथा आज भी सक्रिय भूमिका निभा रही है। ऐसी सक्षम, समृद्ध एवं सुविकसमान भाषा न केवल साहित्य के क्षेत्र में प्रत्युत विज्ञान के विविध आयामों में भी अपनी समग्रता समेटे हुये है। अपने उच्चकोटिक ज्ञान-विज्ञान के कारण आज संस्कृत भाषा, सम्पूर्ण विश्व के आकर्षण का विषय बन गयी है। वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं संस्कृत का विपुल साहित्य भण्डार पाश्चात्य विद्वानों के लिए शोध के विषय बने हुये हैं। इसका सशक्त एवं समृद्ध वैज्ञानिक व्याकरण कम्प्यूटर के लिए सुप्रयोज्य होने से इसका महत्व और अधिक होता जा रहा है।

प्रायः संस्कृत भाषा को लेकर अन्य भाषा-भाषी इस भाषा की जीवन्तता पर संदेह करते हैं। इस भाषा पर लुप्त प्राय एवं मृत होने का आरोप लगाते हैं तथा इसकी सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। संस्कृत भाषा की जीवन्तता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि 21वीं सदी में 'विश्व संस्कृत सम्मेलन' का विशाल आयोजन भारत में सम्पन्न हो रहा है। इससे बढ़कर संस्कृत भाषा एवं साहित्य की जीवन्तता का और क्या प्रमाण हो सकता है? विश्व संस्कृत सम्मेलन इस बात का द्योतक

है कि आज का समय संस्कृत भाषाविदों, साहित्यकारों एवं संस्कृत प्रेमी विद्वज्जनों से पर्याप्त समृद्ध है।

वैदिक काल से ही प्राचीन भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत के प्रति विश्व के समस्त देशों में सम्मान की भावना रही है। पाश्चात्य विद्वानों कीथ तथा ग्रियर्सन के अभिमतों के अनुसार रामायण, महाभारत काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। निरुक्तकार भास्क (700ई0पू0), पाणिनि (5 वीं शती ई0पू0), कात्यायन (चौथी शती ई0पू0) और पतंजलि (150 ई0पू0) ने संस्कृत को जनभाषा माना है। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डच मनीषी वैरेण्ड फैडेगन के अनुसार भारत की आत्मा की खोज और उसके ऐकात्म्य के दर्शन संस्कृत के महान वैयाकरण पाणिनि में किये जा सकते हैं। वैद्यराज चरक (प्रथम शताब्दी) ने चरक संहिता में वैद्यों के वार्तालाप में संस्कृत को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था। प्रयाग के विशाल स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख तथा उनकी स्वर्ण मुद्राओं पर अंकित संस्कृत लेख इसके साक्षी हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त, स्कंदगुप्त ने मध्यभारत में तथा दक्षिण के वाकाटक, कदंब तथा पल्लव वंशी नरेशों ने भी संस्कृत को प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकार किया। महाकवि भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, बाणभट्ट, माघ, राजशेखर, बिल्हण, श्रीहर्ष आदि ने संस्कृत के सर्वतोन्मुखी उन्नति में अविस्मरणीय योगदान दिया है। 11वीं शती में राजा भोज के समय संस्कृत इतनी व्यापक थी कि एक जुलाहा भी सुन्दर श्लोक रचने में सक्षम था। भारत में जन्मी और साहित्यिक समृद्धि वाली यह भाषा दक्षिण पूर्व एशिया के कंबुज, स्याम, जावा, सुमात्रा आदि देशों से प्राप्त कई सौ पुरालेखों एवं शिलालेखों में प्रायः भारती संज्ञा से अभिहित की गयी है। कंबुज के 'बंते केदेयि' नामक स्थान में प्राप्त शिलालेख जिसका रचनाकाल 10वीं शती का आरंभ है, में शिवाचार्य द्वारा लिखित इस श्लोक में संस्कृत की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

सर्वत्रव्यापिनीं वंदे भारतीं भूरि भारतीम्।
सुधावदनपूर्णेन्दु कला पीयूषवर्षिणीम्।।

अर्थात् भारत देशीया भारती की मैं वंदना करता हूँ जिसकी व्याप्ति सर्वत्र है। पूर्ण चन्द्रवन्दना उस भारती की कलायें अमृत की वर्षा करती हैं।

प्रमुख संपर्क भाषा संस्कृत के साथ ही अन्य स्थानीय भाषायें शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश भी लोक

व्यवहार में प्रचलित थीं। इन भाषाओं के प्रयोग संस्कृत साहित्यकारों के द्वारा भी किये गये हैं। 12 वीं शती के प्रसिद्ध कवि श्री हर्ष ने 'नैषधीयम्' में दमयंती स्वयंवर के प्रसंग में स्पष्ट संकेत किया है कि विविध भाषा-भाषी लोग एकत्रित होने पर पारस्परिक विचार विनिमय हेतु संस्कृत भाषा को ही उपयुक्त समझते थे-

अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः,
संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः,
सौवर्ग वर्गो न जनैरचिन्हि।।-नैषधीयचरितम्

अर्थात् भिन्न-भिन्न दिशाओं से आये हुये अनेक भाषा भासियों के परस्पर अनभिज्ञता के भय से स्वयंवर में सभी लोग सार्वत्रिकी संस्कृत भाषा से व्यवहार करते थे। इस कारण भाषा से भी देव और मनुष्यों में भेद लक्षित नहीं होता था।

डॉ0 कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार 'संस्कृत इतने लम्बे समय तक महाद्वीप के समान विस्तृत बृहत्तर भारत की मुख्य भाषा ही नहीं रही, उसने इस बड़े क्षेत्र को असाधारण सांस्कृतिक एकता और दृढ़ता प्रदान की है, ऐसी भाषा की किसी प्रकार उपेक्षा या अवहेलना नहीं की जा सकती'। काल के प्रवाह में अनेक भाषायें उदित हुयी किन्तु काल की क्रूरता से अतीत के गर्त में लुप्त हो गयी। उनको लेकर आज न कोई संगोष्ठी होती है और न सम्मेलन। जबकि संस्कृत भाषा का अनन्तप्रवाह विविध युगों के विविध परिवर्तनों के बीच राष्ट्रीय अस्मिता का बोध कराता हुआ हमारे बीच अधिक संपुष्ट होकर विद्यमान है। नई दिल्ली से प्रकाशित संस्कृत के प्रख्यात कवि डॉ0 रमाकान्त शुल्क द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्रिका 'अर्वाचीन संस्कृतम्' जुलाई 1988 में प्रकाशित 'देववाणी हुंकारशतकम्' में देववाणी के सुविख्यात समर्चक डॉ0 अभिराजराजेन्द्र मिश्र के ये कथ्य दर्शनीय हैं-

या मृता न तुरुष्काणां साम्राज्ये शतपञ्चके।
देववाणी न सा तात! त्वप्रत्यासैर्मरिष्यति।।
आंग्लभाषा प्रभुत्वेऽपि या गता विजिगीषुताम्।
देववाणी न सा तात्! त्वत्प्रयासैर्नशिष्यति।।
देववाणी न भाषेयं प्राकृता शब्द सञ्चया।
इयं सञ्जीवनीशक्तिर्भारतस्यामृतात्मनः।।

संस्कृत भाषा मात्र भाषा नहीं, संस्कृत वाङ्मय केवल वाङ्मय नहीं जो केवल पठन पाठन का विषय हो, संस्कृत एक अन्तर्शक्ति है, जो अनेक रूपों में अन्य भाषाओं में अनुस्यूत है जिससे स्फूर्ति पाकर अन्य भाषायें संरक्षित, संवर्द्धित एवं संपुष्ट होती हैं। संस्कृत वाङ्मय अन्य भाषाओं के वाङ्मय को अस्तित्व प्रदान करने में सदैव से बहुपयोगी रहा है। जिस संस्कृत भाषा से अस्तित्व पाकर अन्य भाषायें अनुप्राणित होती हैं, जिस संस्कृत वाङ्मय से प्रेरित होकर अन्य भाषाओं के वाङ्मय जीवन्त होते हैं, उसी भाषा के शाश्वत एवं जीवंत होने पर संदेह करना सर्वथा अनुचित है।

इस संदर्भ में ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि संस्कृत भाषा पूर्णत: समृद्धि की ओर अग्रसर रही है, तो फिर आज पूरे राष्ट्र की जन सामान्य की एवं प्रशासनिक कार्यों की भाषा क्यों नहीं बनी रह सकी? इसका निर्द्वन्द्व वर्चस्व क्यों नहीं रहा?

डॉ0 अनंत सदाशिव अल्तेकर के ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति' के अनुसार 12वीं शताब्दी के पश्चात् शिक्षित स्त्रियाँ लगभग 5 प्रतिशत् होती थीं तथा पुरुष केवल 30 प्रतिशत। संस्कृत भाषा जन सामान्य की भाषा नहीं रह सकी इसका प्रमुख कारण है-संस्कृत भाषा के तत्कालीन कर्णधारों ने संस्कृत शिक्षा से नारी समाज को वंचित किया तथा पूरे समाज को शिक्षा की अपेक्षित सुविधायें नहीं प्रदान की। संपूर्ण विद्या बुद्धि राज शासन और दम्भ के बल से मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी। अतएव अशिक्षा के अन्धकार बढ़ने के साथ ही भाषा का प्रकाश ओझल होने लगा। वस्तुत: समस्त मानव जाति की प्रगति के लिए शिक्षा ही सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। अतएव शिक्षा का क्षेत्र सबके लिए सुलभ होना चाहिए अन्यथा इसके दुष्परिणाम शीघ्र ही प्रकट होने लगते हैं। यदि हमें फिर से संस्कृत भाषा की उन्नति करनी है तो हमें जनसामान्य में इसका प्रसार प्राथमिक स्तर से उच्च स्तरीय शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से करना होगा।

हमारे देश वासियों की बड़ी भूल रही है कि उन्होंने अपनी भाषा की महत्ता को नहीं समझा एवं उसको एक सीमित क्षेत्र में सीमित रखने का प्रयास किया। विदेशी आक्रमणकारियों एवं विदेशी शासकों की विदेशी भाषा सीखने में इतनी तत्परता दिखायी कि अपनी भाषा के प्रति दृढसंकल्प नहीं रह सके। पहले, मुगल प्रशासन फिर आंग्ल प्रशासन के प्रभाव से प्रशासनिक कार्यों की भाषा बदली जिससे शिक्षण संस्थायें

प्रभावित हुयीं, फिर पूरा समाज उसी भाषा की ओर उन्मुख हो गया, जहाँ सभी के लिए शिक्षा के द्वार खुले हुये थे।

सन् 1835 ई0 में कलकत्ता के संस्कृत कालेज में आयोजित पंडितों की परिषद् ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के गुण दोषों की मीमांसा करके उसे देश के लिए घातक बताया तथा बाबू वर्ग को जन्म देने वाली लार्ड मेकाले की शिक्षा नीति का विरोध भी किया था, किन्तु अंग्रेजी चमक दमक से आकर्षित जनता अपनी संस्कृति की पारम्परिक शिक्षा पद्धति के आगे उसे नकार नहीं सकी। मुस्लिम काल में भारतीय समाज उर्दू का अनुगामी हुआ तथा आंग्ल प्रशासन में वहीं समाज अंग्रेजी का अनुगामी हो गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्र की भाषा हिन्दी निर्धारित की गयी, किन्तु उसके समकक्ष अठारह भाषायें विविध प्रदेशों के शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम बन गयीं। इस स्थिति से हमें यह समझ लेना चाहिए कि हम कभी अपनी प्रमुख भाषा के प्रति सामूहिक संचेतना उत्पन्न नहीं कर सके। भाषा को अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक नहीं बना सके उसका दुष्परिणाम आज हमारे सामने है। क्या यही हमारी संस्कृति की उदारता एवं सहिष्णुता है कि हम दूसरों के प्रभाव में अपनी भाषा बदलने को तैयार हो जाते हैं। ऐसी ही स्थिति यदि चलती रही तो कभी हम भाषा की समस्या हल नहीं कर पायेंगे एवं समय-समय पर भाषा जीवन्तता पर प्रश्न चिन्ह लगाते रहेंगे।

संस्कृत अपनी व्याकरण की अनूठी पद्धति के कारण ही आज भी जीवन्त है। हम पाश्चात्य दासता के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हम इंग्लिश, जर्मन, फ्रैंच और ऐसी भाषाओं में अपनाई गयी पद्धति को वैज्ञानिक समझते हैं किन्तु संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकता को प्रभावी नहीं बनाना चाहते। जबकि पाश्चात्य संगणक वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है कि संस्कृत की क्षमता, वैज्ञानिकता कम्प्यूटर हेतु सर्वथा उपयुक्त है। सूत्र, प्रत्याहार, अनुबन्ध, वृत्ति आदि संस्कृत भाषा की अपनी विशेषतायें हैं। विभक्ति युक्त होने के कारण इस भाषा के पदों के स्थान परिवर्तित करने पर भी अर्थपरिवर्तन नहीं होता, इन विशेषताओं को लेकर आज हम एक नये युग कम्प्यूटर युग में प्रविष्ट हो रहे हैं। संस्कृत भाषा को कम्प्यूटर प्रयोग हेतु प्रमुख भाषा का वैज्ञानिक व्याकरण महर्षि पाणिनी ने कम्प्यूटर हेतु ही निर्मित किया है। ऐसा मान लेने में किसी अन्य भाषा की उपेक्षा नहीं है बल्कि विश्वमंच पर हमारी अपनी पहचान है। अपनी पहचान बनाने

से तात्पर्य है, विश्व के राष्ट्रों के बीच अपने राष्ट्र का विशेष स्थान बना लेना।

20वीं शती में संस्कृत विविध विधाओं में नित्य नवीन लेखन से समृद्ध हुयी है। अर्वाचीन संस्कृतम्, गीर्वाणसुधा, सुधर्मा, संविद, शारदा, सागरिका, विश्वभाषा, संस्कृत सम्भाषण् संदेश, स्वरमंगला इत्यादि अनेकानेक पत्रिकाओं में इस भाषा के समृद्ध रूप तथा नित्य नये प्रयोग देखने को मिलते हैं। समाचार वाचन, सम्भाषण शिविर, संस्कृत शिक्षण, प्रशिक्षण एवं संवादशालाओं के बढ़ते प्रयोग संस्कृत की जीवन्तता को स्वयमेव पुष्ट करते हैं। वेदों के प्रचार-प्रसार हेतु महर्षि चैनल विदेशों में नित्य वैदिक ज्ञान विज्ञान सम्प्रेषित कर रहा है। ऐसी स्थितियों में निःसन्देह संस्कृत का भविष्य और अधिक सशक्त, गौरवपूर्ण एवं जीवन्त दिखाई दे रहा है।

जिस प्रकार विद्युत शक्ति एवं संसाधन कितने ही अधिक विकसित हो जायें उससे सूर्य के प्रकाश के प्रति कभी कोई प्रश्न नहीं उठता और न ही वह कभी अनुपयोगी होता है। क्योंकि वह प्रकाश का मूल स्रोत है, इसी प्रकार कितनी ही भाषायें विकसित हो जायें, वाङ्मय से समृद्ध हो जायें, किन्तु संस्कृत की अपेक्षा सदैव रहेगी क्यों कि वह भाषाओं का मूल स्रोत है, वह हमारी राष्ट्र की आत्मा है, उसकी ध्वजा उठाकर हम विश्व में अपनी पहचान बनाते हैं। संस्कृत किसी विशेष समुदाय या प्रान्त की भाषा नहीं, प्रत्युत वह सकल भारत के जन मानस में बसी संस्कृति की संवाहिका भाषा है। भारतीय भाषाओं के मध्य में अन्तर्निहित स्रोत के रूप में संस्कृत भाषा सदैव विद्यमान रहेगी। संस्कृत व्याकरण एवं शब्द भण्डार से अलग कर यदि भारतीय भाषाओं का आकलन किया जाय तो वह निष्प्राण एवं निश्चेष्ट होगी, वह संस्कृत की सत्ता से सत्तावान् है।

'भाषा और प्रौद्योगिकी' नामक ग्रन्थ में डॉक्टर विनोद कुमार ने उल्लेख किया है कि जिस प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिक प्राचीन युग में ग्रीक और लेटिन भाषाओं की सहायता से शब्द निर्माण कर लेते थे, इसी प्रकार भारतीय वैज्ञानिक भी किसी विषय से सम्बन्धित अपनी विचाराभिव्यक्ति हेतु अपेक्षित शब्दावली का निर्माण संस्कृत भाषा की सहायता से कर लेते थे। आज भी ये प्रक्रिया जारी है। गणित, भौतिकी, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में आर्य भट्ट, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर भाष्कर, महावीर, चरक, सुश्रुत, नागार्जुन आदि प्राचीन भारतीय

वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त और निर्मित शब्दावली इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अखिल भारतीय वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण, पुनरीक्षण एवं समन्वय के लिए नियुक्त विशेषज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के भारतीय पर्याय, संस्कृत धातुओं के आधार पर निर्मित किया है। डॉ0 रघुवीर ने संस्कृत की 520 धातुओं, 80 प्रत्ययों और 20 उपसर्गों के उपयोग से विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित लाखों शब्दों का नव निर्माण किया है। डॉ0 रघुवीर उधार लेने वाली भाषाओं में विश्वास नहीं रखते थे। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत की इस समसामयिकता के चलते हिन्दी भाषा को किसी विदेशी भाषा का मुँह नहीं ताकना पड़ा और वह देश में व्यापक एवं समृद्ध भाषिक परंपरा का निर्वाह कर रही है। आज स्वतंत्र लोकतंत्र में रहते हुये हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अपनी भाषा का प्रयोग क्यों नहीं करना चाहते? क्या हमारे पास कम्प्यूटर के लिए सुप्रयोज्य वैज्ञानिक भाषा का अभाव है या हमें दासता की आदत पड़ गयी? यही उपयुक्त समय है जब हम विविध संदेहों के घेरे से निकलकर अपनी सशक्त भाषा को लेकर रचनात्मक प्रयास प्रारम्भ करें। कम्प्यूटर में संस्कृत भाषा का प्रयोग हेतु व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम को चलायें। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी मानसिकता बदलें, अपनी भाषा को हीन समझने की गलती को करते हुये कुण्ठा ग्रस्त न हों बल्कि इसके लिए अपेक्षित कार्यशालायें, संवादशालायें एवं प्रशिक्षण कार्य चलाकर इसे एक ओर जन सामान्य तक पहुँचाना है तो दूसरी ओर इसे इतना प्रभावी बनाना है कि अन्य देशों में भी इस भाषा के प्रयोग की लालसा जागृत हो। 3 अप्रैल 2001 में बैंगलूर से प्रकाशित श्री जनार्दन हेगड़े द्वारा सम्पादित 'सम्भाषण संदेश' नामक संस्कृत पत्रिका के अनुसार कम्प्यूटर में प्रयोग हेतु दो (Compact Disc) 'भाषिका' नाम की सान्द्र मुद्रिका बैंगलूर नगर में संस्कृत भारती की महाराष्ट्र शाखा द्वारा तैयार की गयी है। भाषिका के प्रथम भाग में पाठ, शब्दार्थ, व्याकरण, सचित्र कोश प्रकाशन, संस्कृत भारती एवं मनोरंजक विषय हैं। सात भाग प्रकाशित किये गये हैं, भाषिका के द्वितीय भाग में हिन्दी संस्कृत कोष, अंग्रेजी, संस्कृत कोष, अमर कोष, शब्दों के अर्थ, रूप, धातुरूप, सहित प्रदर्शित किये गये हैं। कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्रीमान् एस0एम0 कृष्ण महोदय के द्वारा 9 मार्च 2001 में बंगलौर में इस डिस्क का लोकार्पण

डिस्क का लोकार्पण किया गया है। यह सान्द्र मुद्रिका ITR ग्राफिक सिस्टम प्राइवेट लिमिटेड संस्था के सहयोग से तैयार की गयी है। इसी तरह के प्रयोग संपूर्ण भारत में बहुतायत से करने की अपेक्षा है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हो रही प्रगति से आज सम्पूर्ण विश्व निरन्तर सिमटता जा रहा है। वैज्ञानिक ऊँचाइयाँ जितनी बढ़ रही हैं मनुष्य उतना ही निम्न मानसिकता की ओर उन्मुख होता जा रहा है। सतत् नैतिक पतन से समाज भ्रष्ट होता जा रहा है और धीरे-धीरे मानव अस्तित्व खतरे में पड़ता जा रहा है। आज का मानव भौतिकता में इतना अधिक आसक्त हो गया है कि उसे मानवीय मूल्यों की सुरक्षा की चिन्ता नहीं रही। मानव अस्तित्व के संरक्षण हेतु मानव मूल्यों का संरक्षण, संवर्धन एवं उनका नव संतति को हस्तांतरित कराने का दायित्व आज के मानव का उतना ही है जितना कि हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों का था। इस संदर्भ में विचारणीय है कि हमें संस्कृत से क्या अपेक्षा है? संस्कृत वाङ्मय में निहित आध्यात्मिकता के प्रभाव से समाज में चढ़े भौतिक उन्माद को अपेक्षाकृत कम किया जा सकता है। हमें दुनियाँ के सामने यह सिद्ध करना है कि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय मानवीय मूल्यों का शास्त्र है जिसके माध्यम से भारतवर्ष के ऋषियों ने, मनीषियों ने शाश्वत सत्य का शोध किया था, उनका उद्देश्य था सत्य की खोज एवं मानव कल्याण। आज के भौतिक वैज्ञानिक बाह्य जगत् में विविध शोध करते हैं। भारतीय ऋषियों ने मनुष्य की अंत:प्रकृति के रहस्यमय जगत् पर शोध किया था। वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत्, श्रीमद्भगवतगीता, एवं अट्ठारह पुराणों से प्राप्त आध्यात्मिक रहस्य किसी काल या देश की सीमा से आबद्ध नहीं। श्रीमद्भगवतगीता का अलबरूनी ने अपनी यात्रा संस्मरण में उल्लेख किया है। फैजी ने इसका फारसी में अनुवाद किया और दाराशिकोह ने इसका 'सर्रे अकबर' नाम रखा। बंगाल के सूबेदार हुसैन शाह ने भागवत् का बंगला में अनुवाद कराया। वस्तुत: आध्यात्मिक सत्यों पर काल की क्रूरता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ईशावस्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा ग्रध: कस्यस्विद्धनम्।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेषत् शतं समा:।
एवं त्वयि नान्येथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

हजारों वर्ष पूर्व प्रकट हुये इन मंत्रों में वैश्विक लोक कल्याण की भावना अनुप्राणित है, ये किसी स्वार्थ से प्रेरित नहीं। पाश्चात्य

विद्वान् मैक्समूलर ने 'Six System of Indian Philosphy' में अपने विचार व्यक्त करते हुये ये भाव प्रकट किये हैं-"निश्चय ही बड़े आश्चर्य की बात है कि हजारों वर्ष पूर्व भारत के अथक व शूरवीर ऋषियों ने धीरे-धीरे वेदान्त का विकास किया ....है। राक्लिट्स, प्लेटो, कान्ट या हेगेल सहित हमारे किसी तत्त्ववेत्ता ने तूफान या बिजलियों से निर्भय होकर इतने ऊँचे शिखरों के निर्माण का साहस नहीं किया।"

आधुनिक समय में संपूर्ण जगत संकीर्णता एवं पृथक्ता की ओर उन्मुख है। मनुष्य के सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्शों के स्थान पर अन्धी आसक्ति, भय एवं घृणा का विस्तार हो रहा है। अपनी निम्न इन्द्रियोचित वासनाओं की तृप्ति के लिए मनुष्य शक्ति एवं सुख की खोज में तत्पर है। इस संकीर्णता एवं पृथक्ता को दूर करने के लिए वेदान्त के ज्ञान को लोक व्यवहार के धरातल पर लाना होगा। मनुष्य में जो अपने और पराये की भावना निहित है वही घृणा, भय एवं भ्रष्टाचार का मूल कारण है, जहाँ अपने से अलग पृथक्तावादी भाव है वहीं सकल अनर्थ है। अतएव मानव मन से द्वैतभाव हटाने का कार्य करने में संस्कृत वाङ्मय की अपनी विशेष सामर्थ्य है। हमें **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** एवं **'न हि मानवात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** के भाव-सर्वत्र विखेरने होंगे। जब तक मानव में अद्वैत भाव के बीज संस्कारित नहीं होगें, वह विनाशकारी कदम उठाता ही रहेगा।

एक ओर हम भौतिक जीवन को ऊँचा बनाने की कामना करें, उसके लिए अनथक प्रयास करें तथा दूसरी ओर उसके आधारभूत नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करें। ऐसा करना सम्पूर्ण विश्व के लिए घातक है। सर टामस के अनुसार "भौतिकतावाद की भूलें शक्तियों को कुण्ठित व जीवन के सौंदर्य को नष्ट कर सकती हैं। भौतिकतावाद से मानवतावाद की आशा करना व्यर्थ है।"

आज के जीवन के लिए आवश्यक है कि आज के चिन्तक, विचारक युगोचित आदर्शों का निरूपण करें, क्योंकि हमें वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ उच्चकोटि की नैतिक एवं सामाजिक प्रगति की भी अपेक्षा है। दोनों की सन्तुलित उपलब्धि विश्व की असाधारण उपलब्धि होगी। आज के वैज्ञानिक वातावरण में यदि आध्यात्मिकता का प्रवेश हो जाये तो विश्व में संतुलन की पर्याप्त संभावना हो सकती है। विज्ञान एवं अध्यात्म के संयोग से सागर जैसे गहन एवं

गगन जैसे विशाल चरित्र का निर्माण संभावित है, यही मानव के विकास की सही दिशा होगी। संस्कृत वाङ्मय इस कार्य में पूर्ण सक्षम है। आज के युग में संस्कृत की महत्ता और अधिक बढ़ गयी है।

आध्यात्मिकता का तात्पर्य व्यक्त करने के लिए मैं डॉ0 देवराज के ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति' (पृ0 222) की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रही हूँ-"आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन मूल्यों के सर्जन व उपभोग के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं है, इसके विपरीत उसका अर्थ ऐसी अनासक्ति है जो हमें चरम सन्तुलन एवं निराकुल प्रयत्नशीलता की क्षमता देती है।" कवि माघ ने कहा हैं-**'महारंभाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः'** अर्थात् 'कृतबुद्धि-कुशल व विवेकी लोग बड़े-बड़े काम शुरू करते हैं, फिर भी निराकुल बने रहते हैं।'

वस्तुतः मनुष्य के जीवन में आसक्ति एवं अनासक्ति का उचित सामंजस्य होना चाहिए। अध्यात्म का प्रारम्भ भौतिक जगत से ही होता है, सातवें आसमान से नहीं। अतएव इसके संस्कार बाल्यावस्था से ही पड़ने चाहिए। इसे मात्र वृद्धावस्था का विषय समझना बहुत बड़ी भूल है। बाल्यावस्था में बालक का कोमल मन बड़ी सरलता से उत्कृष्ट संस्कारों को ग्रहण कर लेता है। यदि हम संस्कृत वाङ्मय में निहित अध्यात्म की शिक्षा का व्यापक प्रचार करें तो यह भाषा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना विकसित करने का सशक्त माध्यम बन सकती है। यद्यपि इस क्षेत्र में अर्वाचीन संस्कृत साहित्यकार अनथक प्रयास कर रहे हैं, फिर भी इस दिशा में और अधिक रचनात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्य की सूक्तियों को विविध भाषाओं में अनूदित करके प्रभावी कार्य किये जा सकते हैं, क्योंकि अनुवाद के द्वारा भाषा के माध्यम से सौहार्द, सद्भाव तथा सांस्कृतिक समन्वय की भावना विकसित होती है।

संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए सर्वाधिक उपयुक्त उपाय यह है कि प्राइमरी से उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा हेतु संस्कृत माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा अपेक्षाकृत कम शुल्क में उपलब्ध करायी जाये तथा उसे व्यवसाय के साथ जोड़ने का प्रयास किया जाय क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की सुरक्षा की जा सकती है। जन सामान्य को परिचित कराने के लिए संस्कृत भाषा में निहित मानव कल्याण के संदेश, नीतिपरक चर्चा, अध्यात्म विषयक चिंतन के

रोचक कार्यक्रम दूरदर्शन जैसे सशक्त संचार माध्यम से प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है। एतदर्थ किसी सकारात्मक कदम को प्रभावी बनाने के लिए सामूहिक संचेतना की आवश्यकता होती है। अत: संचार माध्यमों द्वारा कुछ विशेष करने की आवश्यकता है। संस्कृत साहित्यानुरागी तो कृतसंकल्प होकर संस्कृत भाषा एवं वाङ्मय का अधिकाधिक व्यापक प्रचार कर रहे हैं एवं इस भाषा की प्रतिष्ठा को और अधिक बढ़ा रहे हैं। उनके प्रयास सम्पूर्ण विश्व को शान्तिमय तथा सौहार्दमय सूत्र में आबद्ध कर सकते हैं। यही संस्कृत भाषा के शाश्वत् एवं जीवन्त होने का उपयुक्त प्रमाण है जिसे जनसामान्य तक पहुँचाना चाहिए-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणिपश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

●

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में वर्णित अज्ञान का आश्रयत्व एवं विषयत्व

उपनिषदों में निहित अध्यात्म-विषयक विवेचना को आचार्य बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' में सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। ब्रह्मसूत्रों की अर्थ व्याख्या करने हेतु अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से भाष्यग्रन्थ लिखे। ब्रह्मसूत्रों का अद्वैतपरक अर्थनिष्पादन आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थ 'शारीरक-भाष्य' में किया। 'शांकरभाष्य' को आधार मानकर पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका टीका लिखी जो परवर्तीकाल में प्रकाशात्मा द्वारा और अधिक विविक्त होकर 'विवरण-प्रस्थान' के नाम से विख्यात हुयी। 'शांकरभाष्य' को सुस्पष्ट करने के लिये श्री वाचस्पति मिश्र ने भामती व्याख्या लिखी जो भामती-प्रस्थान के नाम से प्रख्यात हुई।

परवर्ती अद्वैताचार्यों ने विवरण तथा भामती व्याख्या का आश्रय लेकर अपनी-अपनी विचारशीलता से अद्वैत-सिद्धि का प्रयास किया तथा अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे। स्वतंत्र ग्रन्थों के मध्य स्वामी प्रकाशानन्द कृत 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली' का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य प्रकाशानन्द ने अपने ग्रन्थ में विवरण-प्रस्थान की अनेक मान्यताओं को श्रुति, युक्ति और अनुभव सम्मत सिद्ध किया है। उदाहरणार्थ-अविद्या का अभिन्नाश्रय-विषयत्व, जीव का एकत्व, प्रतिबिम्बवाद का समर्थन, निदिध्यासन को उपकारक मानने की संधारणा-ये मान्यतायें उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या के लिए स्वीकार की हैं।

अविद्या की अपेक्षा-अद्वैत वेदान्त में परम तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविद्या का विश्लेषण किया गया है। यह ऐसा प्रबल तथ्य है, जिससे जगत् को परम सत्य मानने की भ्रान्ति होती हैं, एवं जिसके प्रवाह में जीवन स्वरूप विस्मृतिवश भ्रान्त होता है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए शास्त्रों में भ्रान्ति का विवेचन भी उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार तत्व बोध के लिए, तत्व का वर्णन किया गया है। वस्तुतः अविद्या के विवेचन के बिना परिच्छिन्न, इन्द्रियादि गोचर और जड़ के परम सत्य न होने को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

अविद्या सूचक, अज्ञान, अध्यास, माया, प्रकृति, तमस्, अव्यक्त इत्यादि अनेकानेक पद हैं। आचार्य शंकर ने 'शारीरिक भाष्य' में अज्ञान

को सृष्टि की बीज शक्ति कहा है। इस अविद्या के वश में हुए जीव स्वरूपज्ञान से रहित होकर सोते रहते हैं।[1]

आचार्य सुरेश्वर ने इसे जड़, अविवेक तथा अन्धकार कहते हुये, इसे समस्त द्वैत का उपादान कारण कहा है, इनके अनुसार अविद्या की स्थिति तभी तक है जबतक यह विचार का विषय नहीं होती।[2]

सर्वज्ञात्म मुनि ने अज्ञान को मृषा पदार्थ मानते हुये भी इसकी भावरूपता का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है। इनके अनुसार अज्ञान चैतन्य का आवरक है, इसलिए अभावरूप नहीं क्योंकि अभाव कभी किसी को ढकता नहीं।

इन सभी आचार्यों के पूर्व गौडपदाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में अविद्या को जीवकल्पना का हेतु कहा है, वस्तु का विपरीत रूप में दर्शन होना ही माया है, वस्तुतः यह कुछ भी नहीं है-

सा च माया न विद्यते।-मा0का0 4।58

इसी के अनुरूप योगवाशिष्ठ ने भी अविद्या की अविद्यमानता पर विशेष बल दिया है। इनके अनुसार मृगमरीचिका और मनोराज्य के समान अविद्या है।

अविद्या के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करना सम्भव नहीं, तथापि उसके अस्तित्व में अनुभव और श्रुति दोनों प्रमाण हैं। सत्य को खोजने के लिए प्रयत्नशील होना इस बात का सूचक है कि सत्य के प्रति अज्ञान है। यह अज्ञान हमारे अनुभव का विषय है, इसीलिए इसे शास्त्रों में 'साक्षिभास्य' कहा है। अज्ञान जड़ है, वह स्वयं प्रकाश नहीं है, इसका प्रकाशित होना चैतन्य के अधीन है। अज्ञान के सत्वरहित अस्तित्व का बोध साक्षी प्रत्यगात्मा से होता है।[3] साक्षी प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त किसी प्रमाण से अज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास व्यर्थ है जैसे अन्धकार को दीपक के प्रकाश में देखना किसी प्रकार सम्भव नहीं, वैसे ही अज्ञान को भी प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता है।[4] जब तक वह तत्व बोध नहीं होता तभी तक इसका अनुभव किया जाता है।

अविद्या अनादि है। अविद्या को अनादि मानने पर यह शंका हो सकती है कि ब्रह्म के समान अनादि होने से अविद्या को अनन्त भी मानना चाहिए, किन्तु अविद्या को अनन्त मानने पर तो अविद्या की निवृत्ति संभव नहीं, इससे मोक्ष की असिद्धि होगी। इस शंका का प्रशमन

यह है कि अविद्या कल्पित है, ब्रह्म सत्य है। अविद्या अनादि होने पर सान्त है, ब्रह्म अनादि होने पर भी सत्य होने से अनन्त है। अविद्या को अनादि मानना उचित है, जिसने सत्य का साक्षात्कार किया उसे अविद्या के विनाश का ज्ञान तो हुआ, किन्तु उसकी उत्पत्ति का ज्ञान नहीं हुआ। यह अनादिकाल से प्रवहमान है।

अविद्या के प्रति प्रमाणों की अपेक्षा व्यर्थ है क्योंकि अज्ञान और प्रमाण विरोधी है। प्रमाण ज्ञान के साधन हैं और अज्ञान ज्ञान का विपरीत भाव है, जैसे दीपक के समक्ष अन्धकार अस्तित्व हीन हो जाता है। प्रकाश और अन्धकार के विपरीत होने से समान काल में वे द्रष्टव्य नहीं है, इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी परस्पर विरोधी हैं। अविद्या पर विचार करते हुये आचार्य प्रकाशानन्द ने स्पष्ट कहा है कि अविद्या का युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध न होना वेदान्तियों के लिए गर्व की बात है, यदि अज्ञान युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध हो जाय, तो अज्ञान को कल्पित मानना असम्भव हो जाये। वस्तुतः अज्ञान विषयक अनेक प्रश्नों की उद्भावना ही अज्ञान के अस्तित्व का बोध कराती है।

अज्ञान का आश्रय विषय-जिस वस्तु में अज्ञान आश्रित होता है, वह वस्तु अज्ञान का आश्रय तथा जिस वस्तु के प्रति अज्ञान होता है, वह वस्तु अज्ञान का विषय होती है। आचार्य प्रकाशानन्द के अनुसार अज्ञान की आश्रय वस्तु ही, उसका विषय भी होती है। अज्ञान के आश्रय और विषय हेतु भिन्न वस्तुओं की अपेक्षा नहीं होती। जैसे अन्धकार जिसे अपना आश्रय बनाता है, उसे ही अपना विषय बनाता है। अज्ञान का आश्रय बनाता है, उसे ही अपना विषय बनाता है। अज्ञान का आश्रय और विषय जीव ब्रह्म विभाग से रहित शुद्ध आत्मतत्व ही है।[5]

कुछ विद्वान् अज्ञान का आश्रय विषय एक पदार्थ को ही न मानकर भिन्न-भिन्न पदार्थों को मानते हैं और अज्ञान का अभिन्नाश्रय विषयक नहीं मानते। इनके अनुसार अज्ञान का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म है। विषयत्व ब्रह्म में ही है यह जीव में नहीं हो सकता। इस मत का वर्णन करते हुये आचार्य ने इसे 'तत्वविन्मता' कहा है किन्तु उन्होंने अज्ञान के भिन्नाश्रयविषयत्व को स्वीकार नहीं किया है। अज्ञान के भिन्नाश्रयविषयत्व मानने वाले आचार्यों में मण्डनमिश्र तथा वाचस्पति मिश्र प्रमुख हैं। आचार्य मण्डन ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं किन्तु अविद्या के आश्रयत्व के विषय में कहते हैं-

'यत्तु कस्याविद्येति। जीवानामिति ब्रूमः।.......नादित्वादुभयोरविद्या जीवयोर्बीजांकुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयक्लृप्तिभाव इति'।-बृ०सि० 10

अर्थात् जीव ही अविद्या का आश्रय है ब्रह्म नहीं। अविद्या जीवाश्रया है। जीव और अविद्या दोनों ही बीजांकुरसंतान के समान अनादि है। वाचस्पति भी बीजांकुरसंतान के समान अविद्या को जीवाश्रया स्वीकार करते हैं-

नाविद्या ब्रह्मश्रया, किन्तु जीवे........।-वा०भा०पा० 126
अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजांकुरवदवकलृप्तेरयोगात्।
-वा०भा०पा० 234

आचार्य प्रकाशानन्द को उक्त मत अभीष्ट नहीं है। इस मत का खण्डन करने के लिए उन्होंने अनेक तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं।

अज्ञान का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म को मानकर भिन्नाश्रयविषयत्व का प्रतिपादन करना उचित नहीं, क्योंकि आत्मतत्व से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, जिसे आश्रय से अन्य विषय माना जा सके। यदि यह कहा जाय कि अज्ञान से उपहित आत्मा 'जीव' संज्ञक होकर आश्रय तथा अनुपहित होने से 'ब्रह्म' संज्ञक होता हुआ विषय कहलाता है तो इस स्थिति में भी आश्रय विषय भिन्न नहीं, क्योंकि जीव और ब्रह्म दोनों पदों का लक्ष्य आत्मा ही है।[6]

अज्ञान का आश्रय और विषय भिन्न मानने के लिए जीव और ब्रह्म को सर्वथा भिन्न नहीं माना जा सकता। क्योंकि इन दोनों में यह निश्चय करना असम्भव है कि जीव चैतन्य है या ब्रह्म। किसी एक को चैतन्य मानने से दूसरे में जड़त्वापत्ति होती है। यदि जीव जड़ है तो उसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होना चाहिए। ज्ञानादि संस्फुरण चैतन्य के अभाव में नहीं हो सकते। यदि ब्रह्म को जड़ स्वीकार करें तो भी युक्त नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही अज्ञानोपहित होने पर जीव कहा जाता है। ब्रह्म में जीव का और जीव में ब्रह्म का अभाव न होने से इन दोनों में स्वाभाविक भेद सम्भव नहीं। अतः जीव और ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय और विषय भिन्न रूप में नहीं माना जा सकता।

अज्ञान को भिन्नाश्रयविषयक सिद्ध करने के लिए जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को प्रस्तुत करना भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि अज्ञान भिन्नाश्रय-विषयापेक्षी है तो आश्रय-विषयापेक्षी से पूर्व यह भेद सिद्ध

होना चाहिए। जीवब्रह्म विभाग से पूर्व अज्ञान केवल आत्मा में ही आश्रित रहता है। अज्ञान की स्वतंत्र सत्ता वेदान्त में स्वीकृत नहीं है। आत्मा में ही आश्रित रहने वाला अज्ञान आत्मा को ही विषय भी बनाता है। एक आत्मतत्व में ही आश्रयविषय की अपेक्षा होने पर जीवब्रह्मविभाग होता है। अज्ञान के आश्रय-विषय भिन्न होने के लिए जीवब्रह्मविभाग पहले से उपस्थित होना चाहिए किन्तु यह भेद तो आश्रय और विषय के होने के बाद ही सम्भव है। इस स्थिति में अज्ञान का आश्रय और विषय भिन्न नहीं माना जा सकता।

अज्ञान के भिन्नाश्रयविषयत्व की व्यवस्था के लिए यदि जीव ब्रह्मभेद को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इस भेद को कभी सम्बन्ध नहीं बनना चाहिए, क्योंकि भेद कभी सम्बन्ध नहीं होता, जैसा कि जीवब्रह्म भेद में होता है। दो वस्तुओं के भेद में धर्मी और प्रतियोगी में एक दूसरे का अभाव होता है। जीव और ब्रह्म में भेद मानने पर जीवब्रह्मैक्य रूप शास्त्रप्रयोजन ही असिद्ध हो जायेगा और यह शास्त्र सम्मत न होने के साथ ही अनुभव के भी विरूद्ध होगा, जबकि अज्ञानावरण के हटने पर जीव और ब्रह्म का अद्वयत्व सिद्ध होता है यदि अज्ञान के आश्रय-विषय की अपेक्षा से पूर्व जीवब्रह्म भेद सिद्ध होता तो इन्हें अज्ञान का आश्रय-विषय भिन्न-भिन्न रूप में माना जा सकता है, किन्तु आश्रयविषय से पूर्व जीव ब्रह्म भेद की सम्भावना न होने से अज्ञान को भिन्न आश्रय-विषय वाला नहीं माना जा सकता।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को अभिन्नाश्रयाविषयक सिद्ध करने के लिए अज्ञान को अन्धकार के समान माना है। जैसे अन्धकार जिस स्थल में रहता है, उसे ही अपना विषय भी बनाता है। ऐसा नहीं होता कि अन्धकार किसी अन्य स्थल पर रहकर विषय किसी अन्य स्थल को बनाये। इसी प्रकार अज्ञान भी जिसमें रहता है, उसे ही अपना विषय भी बनाता है। जीवब्रह्मभेद से रहित, आत्मतत्व ही अज्ञान का आश्रय और वही विषय भी है।[7] वस्तुतः आत्मा अद्वयानन्द स्वरूप में अनुभूत नहीं होता, चैतन्य मात्र से प्रतीत होता है, यह चैतन्य ही अज्ञान का साधक है। प्राणियों को चैतन्य मात्र की प्रतीति होती है, यह चैतन्य ही अज्ञान का साधक है। प्राणियों को चैतन्य मात्र की प्रतीति होती है यदि आत्मचैतन्य की प्रतीति न हो, तब तो प्रमाता के अभाव में अज्ञान की ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। आत्मचैतन्य की प्रतीति होने पर भी आत्मा के अद्वयानन्दत्व की अनुभूति नहीं होती। इसीलिए आत्मा को ही अज्ञान का विषय भी मानते हैं। यद्यपि

आत्मचैतन्य और अद्वयानन्दत्व अलग-अलग नहीं है, दोनों ही आत्मस्वरूप हैं किन्तु अज्ञान से आत्मचैतन्य और अद्वयानन्द के भिन्न होने की कल्पना की जाती है। अत: अद्वयानन्दत्व की अनुभूति न होने तक आत्मा को ही अज्ञान का विषय भी मानना चाहिए।

अपने उक्त मत की पुष्टि के लिए प्रकाशानन्द जी ने संक्षेप शारीरक का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है। सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार अद्वितीय शुद्धचैतन्य ही अज्ञान का आश्रय और विषय भी है। तदुक्तम्-

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी-निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर:।।
-वे0सि0मु0, पृ0 13

वस्तुत: समस्त प्रपञ्च तथा जीव अज्ञान का कार्य होने से अज्ञानात्मक हैं, इसलिए वे अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकते। अज्ञान को अज्ञान का आश्रय मानने पर तो अज्ञान की निवृत्ति सम्भव नहीं। जीवेश्वर-विभाग शून्य अद्वितीय शुद्धचैतन्य ही अज्ञान का आश्रय और विषय है।

इस प्रसंग में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वक्तव्य विवेचनीय है। डॉ0 राममूर्ति शर्मा ने डी0लिट्0 के लिए प्रस्तुत अपने शोध प्रबन्ध 'अद्वैतवेदान्त' में 'अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास' संज्ञक अध्याय के अन्तर्गत पृष्ठ 179 में प्रकाशानन्द के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। शर्मा जी ने प्रकाशानन्द के अविद्या सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुये लिखा है-'प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्मविषयिणी कहा है।'

जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्वविन्मता।
-वे0सि0मु0, पृ0 3 (देखिये विद्यासागरी)

शर्मा जी के अनुसार अविद्या को भिन्नाश्रयविषया सिद्ध करना प्रकाशानन्द को अभिप्रेत है। इसका उद्धरण भी उन्होंने प्रस्तुत किया है, किन्तु प्रकाशानान्द का अभिमत सिद्धान्त यह नहीं है। प्रकाशानन्द ने **'जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्वविन्मता'** के आगे लिखा है-**'तद्विरूद्धमिदं वाक्यमात्मात्वज्ञानगोचर:'** यही उनका अभिमत है। जीवब्रह्म विभाग से रहित शुद्ध आत्म तत्व ही अज्ञान आश्रय और विषय है। अविद्या के आश्रय विषय हेतु भिन्न-भिन्न पदार्थों की अपेक्षा नहीं है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि आचार्य ने बड़े ही विवेकपूर्वक की है और पुष्टि के लिए सर्वज्ञात्ममुनि विरचित सङ्क्षेपशारीरक का उद्धरण भी दिया है।

आचार्य प्रकाशानन्द ने अपने सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं-

(1) अज्ञान की आश्रय वस्तु ही उसका विषय भी होती है, जैसे अन्धकार जिसे अपना आश्रय बनाता है, उसे अपना विषय भी बनाता है। इसी प्रकार अज्ञान के आश्रय विषय व्यवस्था के लिए भिन्न वस्तुओं की अपेक्षा नहीं।

अविद्या स्वाश्रयाभिन्नविषया स्यात्तमो यतः।
यथा बाह्यं तमो दृष्टं तथा चेयं ततस्तथा।।-वे0सि0मु0

(2) यदि यह कहा जाय कि अज्ञान से उपहित आत्मा 'जीव' संज्ञक होकर 'आश्रय' तथा अनुपहित होने से ब्रह्म संज्ञक होता हुआ 'विषय' कहलाता है तो इस धारणा में भी आश्रय विषय भिन्न-भिन्न नहीं है क्योंकि जीवन और ब्रह्म दोनों पदों का लक्ष्य प्रत्यगात्मा है।

ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे भेदः स्वाभाविको यदि।
औपाधिकोऽथवा भेदः सर्वथानुपपत्तिकः।।-वे0सि0मु0

(3) वस्तुतः जीव-ब्रह्म में स्वाभाविक भेद तो है नहीं, औपाधिक भेद से भी भिन्नाश्रयविषयत्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि जीव और ब्रह्म विभाग से पूर्व अज्ञान केवल आत्मा में ही आश्रित रहता है, अज्ञान की स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

'भेदोत्पत्तेः पूर्वमेव केवले आत्मन्यज्ञानसिद्धेर्भेदानपेक्षणात्स्वतंत्रा-ज्ञानानंगीकारात्।'-वे0सि0मु0, पृ0 12

(4) जीव ब्रह्म विभाग से शून्य आत्मसत्व ही अज्ञान का आश्रय विषय है।

'तस्माज्जीवब्रह्मविभागशून्यमात्मानमाश्रित्य तमेव विषयीकरोति त्यज्ञान-विषयत्वमात्मनः सिद्धम्।'-वे0सि0मु0, पृ0 13

'आत्मतत्व ही अज्ञान का आश्रय और विषय है' इस सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के लिए प्रकाशानन्द ने लिखा है कि आत्मा अद्वयानन्द रूप में अनुभूत नहीं होता, चैतन्य मात्र की प्रतीति होती है। चैतन्य की अनुभूति होने पर भी आत्मा के अद्वयानन्दत्व की अनुभूति नहीं होती इसीलिए आत्मा को ही अज्ञान विषय भी मानते हैं।

'स्वयम्प्रकाश परिपूर्णानन्दस्वरूपेण भासमानेऽप्यात्मनि मिथ्यैव भेदं परिकल्प्याद्वयानन्दस्वरूपस्य विषयत्वाभिधानम्।'-वही, पृ0 10

अन्त में अज्ञान के अभिन्नाश्रय विषयत्व के प्रतिपादन के लिए प्रकाशानन्द जी ने 'सङ्क्षेपशारीरक' का उद्धरण प्रस्तुत किया है-

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी-निर्विभागाचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।

-वे0सि0मु0, पृ0 15

इस उद्धरण में सर्वज्ञात्ममुनि ने स्पष्ट कहा है-अद्वितीय शुद्ध चेतन ही अज्ञान का आश्रय और विषय भी है। समस्त प्रपञ्च तथा जीवत्व अज्ञान का कार्य होने से अज्ञानात्मक है, अतएव वे अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकते। शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय और विषय है। जीव ब्रह्म विभाग अज्ञान प्रयुक्त होने से आश्रयत्व के योग्य नहीं है।

इस प्रकार अज्ञान का आश्रयत्व विषयत्व आत्मतत्व में ही सम्भव है। प्रकाशानन्द की इस विषय में तर्कसंगत स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होने पर भी डॉ0 राममूर्ति शर्मा ने अपने ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में प्रकाशानन्द के विचारों का विश्लेषण करते हुये उनके अविद्या के आश्रयत्व विषयत्व को विपरीत रूप में प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ

1. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया। मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेते संसारिणो जीवाः।
   -ब्र0सू0शां0 भाष्य 1।4।3, पृ0 288
2. अविचारितसंसिद्धिः सर्वानर्थैककारणम्।
   प्रत्यङ्मात्रैकसाक्षित्वात् तमस्तत्प्रत्यगात्मनि।।-वृ0भा0वा0 1।4।134
3. प्रत्यङ्मात्रैकविषयत्वात्।-वृ0भा0वा0 1।4।134
4. अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो ज्ञानेनात्यन्तमूढधीः।
   स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा।।-वे0सि0मु0
5. अविद्या स्वाश्रयाभिन्नविषया स्यात्तमो यतः।
   यथा बाह्यं तमो दृष्टं तथा चेयं ततस्तथा।।6।।-वे0सि0मु0
6. ब्रह्मशब्देनापि तस्यैवाभिधानात्।-वे0सि0मु0, पृ0 9
7. तस्माज्जीवब्रह्मविभागशून्यमात्मानमाश्रित्य तमेव विषयीकरोतीत्यज्ञानविषयत्वमात्मनः सिद्धम्।-वे0सि0मु0, पृ0 13

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेदसंहिता		चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
2. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	चौखम्बा प्रकाशन, बॅग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली
3. अनूपविलास आचाररत्नम्		नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली
4. अद्वैतवेदान्त	डॉ0 राममूर्ति शर्मा,	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली
6. अर्थशास्त्रम्	कौटिल्य	चौखम्भा भवन, वाराणसी
7. इक्षुगन्धा	डॉ0 राजेन्द्र मिश्र	वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद
8. ईशावास्योपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
9. ऋग्वेदसंहिता	अनु0 रामगोविन्द त्रिवेदी	चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
10. कठोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
11. कादम्बरीकथामुखम्	डॉ0 राजेन्द्र मिश्र	अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
12. तैत्तिरीयोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
13. दयानन्द यजुर्वेद भाष्य	भास्कर	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली
14. नलचम्पू		चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
15. निरुक्त		चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
16. नैषधीयचरितम्		चौखम्भा भवन, वाराणसी

17. पद्मपुराण		नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली
18. पुराणपर्य्यालोचनम्		चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी
19. ब्रह्मसिद्धि	आचार्य मण्डन मिश्र	मद्रास
20. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्	शङ्कराचार्य	चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
21. भारतीय दर्शन का इतिहास	एस0एन0 दासगुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
22. आद्याचतुश्शती	डॉ0 आद्याप्रसाद मिश्र	अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
23. भाति मे भारतम्	डॉ0 रमाकान्त शुक्ल	देववाणी परिषद, नई दिल्ली
24. भारतजनताहम्	डॉ0 रमाकान्त शुक्ल	देववाणी परिषद, नई दिल्ली
25. भवानीभारती	श्री अरविन्द	नई दिल्ली
26. भाषा और प्रौद्योगिकी	गिरिराज किशोर	रचनात्मक लेखन एवं प्रकाशन केन्द्र, कानपुर
27. मनुस्मृति	राजवीर शास्त्री	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली
28. माण्डूक्योपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
29. माण्डूक्यकारिका		गीताप्रेस, गोरखपुर
30. यजुर्वेदसंहिता		चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
31. याज्ञवल्क्यस्मृति	पं0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
32. राङ्गडा	डॉ0 राजेन्द्र मिश्र	वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद
33. बृहदारण्यकोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
34. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक		चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस

35. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा	सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती	अध्यात्म प्रकाशन कार्यालय, होक्नेनरसीपुरम्
36. वेदामृतम्	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	ज्ञानपुर, वाराणसी
37. वेदों में नारी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	ज्ञानपुर, वाराणसी
38. वैदिक वाङ्मय में विज्ञान	डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्ता	वेदविद्याप्रतिष्ठान, उज्जैन
39. श्रीमद्भागवतमहापुराण		चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
40. श्रीमद्भगवद्गीता		गीताप्रेस, गोरखपुर
41. संस्कृत साहित्ये जलविज्ञानम्	डॉ० नवलता	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
42. सुश्रुतसंहिता	पं० अम्बिका दत्त शास्त्री	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
43. वृहत्संहिता		चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
44. सङ्क्षेपशारीरकम्	सर्वज्ञात्ममुनि	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
45. चरकसंहिता		चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
46. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति		बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
47. वैदिक चिन्तामणि	डॉ० मुंशीलाल शर्मा	यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, दिल्ली
48. पुराणों में राष्ट्रीय एकता	डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
49. अर्वाचीनसंस्कृतम् (त्रैमासिक-पत्रिका)	सं० डॉ० रमाकान्त शुक्ल	देववाणीपरिषद, वाणीविहार, नई दिल्ली
50. शोधप्रभा (त्रैमासिक-पत्रिका)		लालबहादुरशास्त्री संस्कृतविद्यापीठ, कटवारिया सराय, दिल्ली
51. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली	प्रकाशानन्द	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

52. वैदिक कोश		चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
53. उपनिषद्महावाक्यकोश		चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
54. कालिदाससाहित्यम्	सं0 आद्याप्रसाद मिश्र	अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद-2
55. प्राचीन भारतीय संस्कृति	वीरेन्द्र कुमार सिंह	अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद-2
56. नाट्यनवग्रहम्	राजेन्द्र मिश्र	वैजयन्त प्रकाशन इलाहाबाद-2
57. नाट्यनवरत्नम्	राजेन्द्र मिश्र	वैजयन्त प्रकाशन इलाहाबाद-2

